परिवार और उसका निर्माण

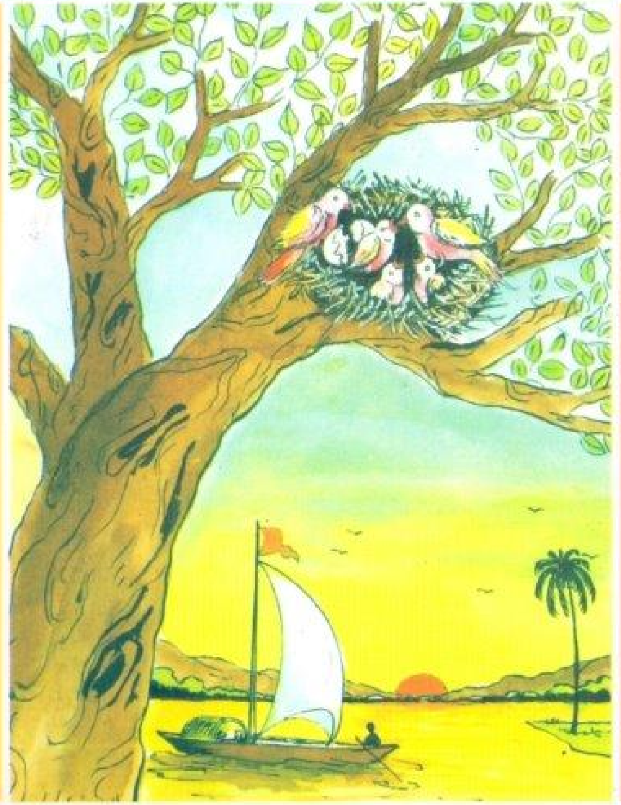

– श्रीराम शर्मा आचार्य

ॐ

परिवार और उसका निर्माण

卐

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : १६.०० रुपये

''जिस प्रकार ब्रह्मांड का छोटा स्वरूप पिंड (शरीर) होता है, उसी प्रकार विस्तृत समाज का छोटा स्वरूप अपना परिवार है । परिवार को समुन्नत और सुसंस्कृत बनाना सारे समाज का उत्थान करने की एक छोटी प्रक्रिया है । उसको क्रियात्मक रूप देने की प्रयोगशाला परिवार है ।..........समाज-सेवा का परिपूर्ण अवसर इस छोटे क्षेत्र में हर व्यक्ति को प्राप्त है । उसे अपने कौशल, ज्ञान और क्षमता का पूरा लाभ देकर समाज-सेवा के अपने उत्तरदायित्व को यदि हर व्यक्ति पूरा करता चले तो सहज ही सभ्य-समाज की रचना का उद्देश्य पूरा हो सकता है ।''

विषय-सूची

१. पारिवारिक-जीवन की समस्याएँ ५
२. गृहस्थ की दुर्दशा १३
३. परिवार-निर्माण के सूत्र १६
४. परिवार का पालन ही नहीं निर्माण भी १९
५. पारिवारिक पंचशील सिद्धांत २३
६. परिवार भी एक शरीर ही है २६
७. परिजनों के सुधार की पूर्ण प्रक्रिया ३२
८. उत्तराधिकार में परिवार को पाँच रत्न दीजिए ३८
९. परिवार का मूल दाम्पत्य-जीवन ४६
१०. पतिव्रत धर्म की गरिमा ५३
११. पत्नीव्रत धर्म की आवश्यकता ५९
१२. क्या संतान न होना दुर्भाग्य है ? ६६
१३. बालकों के निर्माण का आधार ७६
१४. बालक के निर्माण में माता का हाथ ७९
१५. उत्तम संतान कैसे प्राप्त हो ? ८४

◆

भूमिका

जिस प्रकार हाथ-पाँव, सिर, धड़ आदि से मिलकर एक पूरा शरीर बनता है, उसी प्रकार परिवार के विभिन्न सदस्यों के सम्मिलित स्वरूप से ही मानव-जीवन का समग्र ढाँचा खड़ा होता है । परस्पर मिल-जुल कर रहने और एक दूसरे की सहायता करने की प्रवृत्तियों के आधार पर ही मानव-जीवन की समस्त प्रगतियाँ संभव होती हैं और इन प्रवृत्तियों के अभ्यास का अवसर पारिवारिक-जीवन में ही सहज उपलब्ध हो जाता है ।

एकाकी मनुष्य सर्वथा अपूर्ण है । इस प्रकार जीवन-यापन करने वाले व्यक्ति की क्षमता और प्रतिभा विकसित होने के स्थान पर कुंठित ही होती है । योग-साधन के लिए कुछ समय एकांत सेवन करना पड़े तो वह एक सामयिक व्यवस्था है, पर मूलत: तो जीवन-विकास और सामूहिक उत्कर्ष के लिए मिल-जुल कर ही रहना पड़ता है ।

परिवार लौकिक सुविधाओं की दृष्टि से ही नहीं, आत्मिक सद्‌गुणों को अभ्यास में लाने के लिए भी आवश्यक है । ईश्वर ने जितनी समाज-सेवा अनिवार्य रूप से हमें सौंपी हैं वह परिवार ही है । किसी भी व्यक्ति की आध्यात्मिक एवं सामाजिक जिम्मेदारी उसके पारिवारिक कर्तव्यों के साथ मजबूती के साथ बँधी हुई है । परिवार को सुविकसित करने के लिए निरंतर सचेष्ट रहना मानवता की सेवा की दृष्टि से नितांत आवश्यक है ।

प्रस्तुत पुस्तक में परिवार के प्रति मनुष्य के कर्तव्यों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है और बताया गया है कि राष्ट्र-रचना के इस महान कार्य को कितनी पवित्रता, तत्परता और श्रद्धापूर्वक सम्पन्न किया जाना चाहिए । समाज का छोटा स्वरूप परिवार है । छोटे-छोटे परिवारों से मिलकर ही राष्ट्र या विश्व बनता है । समाज या संसार में जैसा भी कुछ हम बनना चाहते हैं उसका प्रबंध घर से ही हम सब करने लगें तो नवयुग के निर्माण की विश्वव्यापी सुख-शांति की समस्या सहज ही हल हो सकती है ।

-श्रीराम शर्मा आचार्य

परिवार और उसका निर्माण

पारिवारिक जीवन की समस्याएँ

जिस प्रकार विभिन्न अवयवों के मिलने से एक शरीर बनता है उसी प्रकार कुटुम्ब के सब सदस्यों से मिल कर एक परिवार या पूर्ण व्यक्तित्व बनता है । घर का एक आदमी आदर्शवादी और श्रेष्ठ बने तथा शेष सारा कुटुम्ब फूहड़पन का ऊबड़-खाबड़ जीवन व्यतीत करे, यह बहुत ही बेतुकी बात है । हम कुल्ला तो रोज कर लिया करें, मुँह तो खूब धो लिया करें पर अन्य सारे शरीर को गंदा ही रहने दें, स्नान और सफाई की व्यवस्था न करें तो यह कहाँ की शुद्धता मानी जायगी । स्त्री, बच्चे, भाई, बहिन जो लोग मिल-जुलकर एक साथ एक घर में रहते हैं, एक चौके में भोजन करते हैं उनके गुण, कर्म, स्वभावों का आपस में तालमेल बैठना चाहिए । सभी को अपने आवश्यक कर्तव्यों का पालन करना और स्वभाव में इतनी सज्जनता उत्पन्न करना आवश्यक है कि जिससे सब लोग शांतिपूर्वक रह सकें ।

जीवन विकास की शिक्षा का अधिकांश भाग परिवार की पाठशाला में पूर्ण होता है । परिवार के वातावरण को ही संस्कृति कहते हैं, खानदान की अच्छाई की तलाश इस पारिवारिक वातावरण के आधार पर ही की जाती है । विवाह-शादियों में लोग ऊँचे खानदान की बात बहुत बारीकी से देखा करते हैं । अब तो वह रूढ़ि मात्र रह गई हैं, पर प्राचीन काल में इस देखभाल का, खानदान का मतलब परिवार का रहन-सहन, आदर्श, स्वभाव एवं वातावरण ही समझा जाता था । उन्नतिशील व्यक्तियों और महापुरुषों का निर्माण इस खानदानी वातावरण में पाले-पोसे जाने से ही संभव होता है । निकृष्ट परिस्थितियों के कुटुम्ब में पाले-पोसे जाने पर कभी कोई बिरला ही अपवाद रूप से विकसित व्यक्तित्व का महापुरुष बन सका होगा । इसलिए यह

आवश्यक है जैसे हम अपने स्वास्थ्य, सुविधा, मनोरंजन, उपार्जन आदि की बातें सोचा करते हैं, इन समस्याओं के लिए चिंतित रहा करते हैं, उसी प्रकार अपने ऊपर जिस परिवार का उत्तरदायित्व भगवान ने सौंपा है उसे सभ्य, सुसंस्कृत और सुविकसित बनाने के लिए पूरा-पूरा ध्यान दें और इसके लिए जो कुछ किया जाना संभव हो उसे पूरी तत्परता और दिलचस्पी के साथ एक आवश्यक और महत्वपूर्ण कार्य समझ कर करते रहें । हमारे घर दीक्षा विद्यालय होने चाहिए । बच्चे स्कूल में शिक्षा प्राप्त करें, पर व्यक्तित्व के विकास की आवश्यक दीक्षा उन्हें घर में मिल सके ऐसा वातावरण उत्पन्न करना हममें से प्रत्येक को अपना परम पवित्र कर्तव्य मानना चाहिए । कार्य यह भी कठिन है, प्रगति भी मंद हो सकती है, पर उपेक्षा से भी काम चलने वाला नहीं है । कुछ करने से ही तो आगे बढ़ना संभव होगा ।

साधना, स्वाध्याय और आत्मोन्नति के लिए, परमार्थ के लिए छोड़े गए छः घंटों में से आधा समय अर्थात् तीन घंटे खर्च किये जा सकते हैं । शेष तीन घंटे परिवार और समाज की सेवा में लगाने चाहिए । जिन्हें अपना परिवार सभ्य और सुविकसित देखना हो तो उन्हें कम से कम एक घंटा अपनी परिवार गोष्ठी के लिए बिल्कुल निश्चित रूप से नियत रखना चाहिए । जब सब लोग फुरसत में होते हैं तब परिवार की दैनिक समस्याओं पर विचार-विनिमय करने के लिए एक नियत समय पर ज्ञान गोष्ठी का कार्यक्रम रखा जाया करे । आज के दिन किसके मन में क्या भले-बुरे भाव उठे और क्या प्रिय-अप्रिय परिस्थितियों का सामना करना पड़ा इसकी चर्चा इस गोष्ठी में की जाती रहनी चाहिए ।

समाचार पत्रों में छपती रहने वाली, अपने आसपास घटित होते रहने वाली घटनाओं से लेकर उनकी आलोचना और समीक्षा इस दृष्टिकोण को लेकर की जानी चाहिए कि उस समीक्षा के प्रभाव से अपने परिवार को दुष्टों और दुष्टताओं से सावधान रहने और सज्जनों एवं सत्कर्मों की ओर अभिमुख होने की प्रेरणा मिले । पौराणिक उपन्यास या कहानियों के माध्यम से भी इस प्रकार का शिक्षण हो सकता है । कहानी कहना भी एक महत्वपूर्ण कला है और परिवार निर्माण के लिए तो उसकी उपयोगिता बहुत ही अधिक है ।

व्याख्यान, प्रवचन, भजन, सत्संग आदि के कार्यक्रम सभा-सोसायटियों के उपयुक्त हो सकते हैं पर घर की दैनिक गोष्ठियों में उनका विशेष उपयोग नहीं है । उनमें कृत्रिमता का पुट अधिक रहने से नये-नये लोगों पर ही प्रभाव पड़ता है । घर में सीधी-सीधी बातें ही कारगर होती हैं । चर्चा, समीक्षा, विचार-विनिमय, गप-शप । कहानी आदि के हलके-फुलके तरीके न तो किसी के मस्तिष्क पर भार बनते हैं और न उन्हें सुनाते-सुनते कोई ऊबता है । इसलिए परिवार का प्रशिक्षण इन्हीं साधनों के आधार पर किया जाना चाहिए । हमारी दैनिक परिवार ज्ञान गोष्ठियों की प्रक्रिया ही गतिमान हो सकती है ।

कोई अभिभावक अपने स्त्री, बच्चों के लिए, परिजनों के लिए भोजन, वस्त्र, दवा, फीस, किताब, जेबखर्च, मनोविनोद आदि का प्रबंध कर देने मात्र से अपने कर्तव्यों से उऋण नहीं हो सकता । पैसे खर्च करके जो लोग अपने पारिवारिक कर्तव्यों को पूरा किया मानते हैं वे भारी भूल करते हैं । सुसंस्कारों का प्रदान करना एवं उनकी मनोभूमि को सुरुचिपूर्ण, सुसंस्कृत बनाना भी उन्हीं का काम है, इसके बिना अधिकांश उत्तरदायित्व अपूर्ण ही माना जायगा । स्कूलों में शिक्षा मिल सकती है, दीक्षा नहीं । संस्कृति की दीक्षा तो उसी वातावरण में मिलती है जहाँ मनुष्य रहता है । प्राचीन काल में ऋषि अपने शिष्यों की शिक्षा और दीक्षा दोनों का ही प्रबंध अपने आश्रमों में रखकर किया करते थे । वे आश्रम छात्रों के घर भी थे और शिक्षालय भी । गुरुकुलों में सर्वांगपूर्ण विकास का वातावरण रहता था और उनमें पलकर बालक अपने भावी जीवन को समुन्नत बनाने की शिक्षा साधना किया करते थे । आज वैसा वातावरण बाहर कहीं नहीं दीखता । अब यह कार्य प्रत्येक अभिभावक को स्वयं करना पड़ेगा । अपने घर का वातावरण ऐसा बनाना पड़ेगा जिसमें रहने और सांस लेने से परिवार का प्रत्येक व्यक्ति सभ्य नागरिक बनने की सुविधा प्राप्त कर सके । हमारे घरों की दीक्षा विद्यालयों में परिणित होना चाहिए । बड़ों का जीवन ऐसा हो जिसे देखकर छोटे यह प्रभाव अनायास ही ग्रहण कर लें और स्वयं भी आगे वैसे ही बनने और ढलने की तैयारी करें । एक घंटे की ज्ञान-गोष्ठी के अतिरिक्त निरंतर अपने परिवार की गतिविधियों पर दृष्टि रखें

और समय-समय पर परिजनों का प्रेम, शांति, धैर्य एवं सज्जनता के साथ आवश्यक मार्गदर्शन करते रहें तो उसका प्रभाव घर के वातावरण को प्रभावित करता ही रहेगा ।

कई व्यक्ति अपने परिवार को सुसंस्कृत तो बनाना चाहते हैं पर इसके लिए केवल अपशब्द कहना, क्रोधित रहना, निंदा करना, गाली-गलौज या मारपीट करना जैसे बेहूदे तरीके ही उनके पास होते हैं । इन उपायों से किसी का सुधर सकना तो दूर, उल्टे अधिक बिगड़ने, चिड़चिड़े होने और विरोधी बनने का ही परिणाम सामने आ सकता है । जिस प्रकार स्कूल के बच्चों को पढ़ाने के लिए अध्यापकों को, गृहस्वामियों और कुलपतियों को भी अपने परिवार का प्रशिक्षण करने की क्रमबद्ध शिक्षा प्राप्त करनी पड़ेगी । दुख की बात है कि जहाँ मशीनें चलाने और नौकरी करने जैसे कामों की ट्रेनिंग के लिए अनेक स्थानों पर प्रशिक्षण चलते हैं वहाँ अपना जीवन भलमनसाहत के साथ जीने और अपने अंगभूत परिवार को सुसंस्कृत बनाने की क्षमता प्राप्त करने का कोई प्रशिक्षण संस्थान नहीं है । लगता है कि इस अभाव की पूर्ति के लिए भी हमें ही एक व्यापक प्रभावपूर्ण व्यवस्था बनानी पड़ेगी । जब तक ऐसी कोई व्यावहारिक शिक्षण व्यवस्था नहीं बन जाती तब तक इस प्रकार के साहित्य द्वारा ही बहुत कुछ मार्गदर्शन मिल सकेगा ।

जो हो, हमें आत्म-निर्माण और परिवार-निर्माण की उपयोगिता और आवश्यकता समझनी ही होगी और आज की परिस्थितियों के अनुसार हमें कुछ न कुछ सोचने और करने के लिए कटिबद्ध होना ही पड़ेगा । युग निर्माण का श्रीगणेश और शुभारंभ इसी प्रकार तो होने वाला है ।

मनुष्य स्वभावतः सामाजिक प्राणी है । उसे मिल-जुलकर साथ-साथ रहने में ही सुविधा होती है और इसी में वह प्रसन्नता अनुभव करता है । जिनने परमात्मा को जीवन सहचर और विश्व के प्रत्येक चर-अचर को अपना कुटुम्बी, आत्मीय मान लिया है उनका सूक्ष्म परिवार अत्यंत विशाल हो जाता है । उन विरक्त संत-महात्माओं को बाह्य परिवार की आवश्यकता भले ही प्रतीत न हो पर सर्व साधारण के लिए तो वह स्वाभाविक ही है और आवश्यक

भी । विरक्त लोग भी अपने जैसे अन्य विरक्तों से ताल-मेल बिठाने और अखरने वाले सूनेपन को हटाने का प्रयत्न करते रहते हैं । सामान्य मनुष्यों के लिए तो इसके बिना जीवनयापन कर सकना कठिन हो जाता है ।

आध्यात्मिक विकास, कर्तव्य पालन, त्याग, परमार्थ, स्नेह, कृतज्ञता, संयम आदि की वृत्तियों का जितना विकास सम्मिलित कुटुम्ब में होता है उतना पृथक रहने में संभव नहीं । घर में कई व्यक्ति ऐसे होते हैं जो स्वयं उपार्जन नहीं कर सकते, जिन्हें परावलंबी रहना होता है । ऐसे लोगों की सुव्यवस्था सम्मिलित कुटुम्ब में ही संभव है । बूढ़े माता-पिता, छोटे भाई-बहिन, विधवाएँ, उनके बच्चे आदि कई ऐसे लोग भी प्रत्येक घर में होते हैं जिनकी उपार्जन क्षमता या तो अभी विकसित नहीं हुई है या समाप्त हो चुकी है । हमारा दुर्भाग्य ही है कि रूढ़ियों ने नारी को असक्त, अपंग और बंदी बनाकर इस स्थिति में पटक दिया है कि वे उपार्जन की दृष्टि से स्वावलंबी नहीं बन पातीं । ऐसी दशा में यदि कमाऊ लोग अपनी पत्नी को लेकर अलग रहने लगें तो इन बिना कमाऊ लोगों की भारी दुर्गति होती है । अपने आत्मीय जनों को कठिनाई में पड़ा छोड़कर जो पति-पत्नी मौज उड़ाने के लिए अलग हो जाते हैं उन्हें स्वार्थी और हृदयहीन ही कहा जायगा ।

सभ्य समाज के निर्माण का आधार यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता, कुशलता, शक्ति, ज्ञान और साधन सामग्री का लाभ अपने से पिछड़े हुए जरूरतमंद दूसरें लोगों को प्रदान करे । इसी को पुण्य-परमार्थ, त्याग, दान, उदारता, सहृदयता, मानवता आदि श्रेष्ठ सम्मानित नामों से पुकारते हैं और ऐसे ही कार्यों की प्रशंसा की जाती है । सम्मिलित कुटुम्ब में कमाऊ व्यक्ति को अपने सारे परिवार के लिए त्याग और तप करना पड़ता है जिससे वह प्रशंसा, पुण्य, संतोष और गौरव सभी कुछ प्राप्त करता है । उसके प्रतिदान का सहारा पाकर अविकसित बच्चे विकसित होते हैं और न कमा सकने वाले सुविधापूर्वक जिंदगी काट लेते हैं । दूसरों का सहारा बन कर जीना वस्तुतः एक बड़ी प्रशंसा की बात है और प्रसन्नता की भी । इसके विपरीत जो असमर्थ आश्रितों की ओर से निष्ठुरता धारण करके संकीर्ण स्वार्थ और सामयिक

सुविधाओं से मनमाना लाभ उठाने के लिए पृथक रहने लगे हैं उन्हें वैसे ही घृणित लोगों की श्रेणी में गिना जायगा जो अपने लाभ के आगे दूसरे किसी की सुविधा-असुविधा की बात नहीं सोचते । यदि यह पशु प्रवृत्ति मनुष्य के आवरण में भी रहे तो फिर उस मनुष्य का कोई नैतिक आदर्श क्या माना जायगा ? अपना पेट पालने, अपना स्वार्थ साधने में तो सियार, बंदर भी चतुर होते हैं । वही आदर्श यदि मनुष्य ने भी अपनाया तो फिर उसकी विशेषता ही क्या रह जायगी ?

जिस प्रकार ब्रह्मांड का छोटा स्वरूप पिंड (शरीर) होता है उसी प्रकार विस्तृत समाज का छोटा स्वरूप अपना परिवार है । परिवार को समुन्नत और सुसंस्कृत बनाना सारे समाज का उत्थान करने की एक छोटी प्रक्रिया है । उसको क्रियात्मक रूप देने की प्रयोगशाला परिवार है । सारा समाज हमारे नियंत्रण या अधिकार में नहीं है । उस पर अपना दबाव और प्रभाव भी नहीं रहता है पर कुटुम्ब के लोगों के साथ आत्मभाव का तारतम्य इतना गहरा होता है कि परिजनों के उत्थान और विकास के लिए, सुख और समृद्धि के लिए शिक्षा और दीक्षा के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है । समाज-सेवा का परिपूर्ण अवसर इस छोटे क्षेत्र में हर व्यक्ति को प्राप्त है । उसे अपने कौशल, ज्ञान और क्षमता का पूरा लाभ देकर समाज सेवा के अपने उत्तरदायित्व को हर व्यक्ति पूरा करता चले तो सहज ही सभ्य समाज की रचना का उद्देश्य पूरा हो सकता है ।

अर्थ विज्ञान के सिद्धांतों ने भी अध्यात्म विज्ञान की मान्यताओं को ही पुष्ट किया है । व्यक्तिवाद को, अलगाव की प्रवृत्ति को, स्वार्थपरता को आर्थिक आदर्शों के विपरीत बताया जा रहा है और एक विस्तृत दर्शन शास्त्र के द्वारा यह समझाया जा रहा है कि मिल-जुल कर रहने, काम करने, श्रम, पुरुषार्थ करने और बांट कर खाने में ही समाज की प्रगति संभव है । इसी दर्शन शास्त्र का नाम समाजवाद है । सहकारिता आंदोलन को महत्व इसी दृष्टि से दिया जा रहा है । सामूहिक और सम्मिलित प्रयत्नों के लिए ही संस्थाएँ बनती हैं । प्रजातंत्र का ढांचा ही सामूहिक और सहकारिता पर खड़ा होता है । इसी आधार पर

सरकार बनती और राजकाजी चुने जाते हैं । अमीरों पर अधिकाधिक टैक्स का भार डालना और गरीबों को अधिकाधिक सुविधा प्रदान करना सरकारी नीति होती है । सम्मिलित परिवार ऐसा ही प्रजातंत्र है, जिसमें अधिक कमाने वाले को टैक्स के रूप में न कमाने वालों के लिए अपनी कमाई छोड़नी पड़ती है ।

आर्थिक दृष्टि से भी लाभ इसी में है । दस व्यक्ति इकट्ठे रहें तो उन पर जितना खर्च आता है उसकी अपेक्षा दशों के अलग-अलग रहने में कहीं अधिक खर्च आवेगा । सम्मिलित कुटुम्ब में हारी-बीमारी तथा सुविधा-असुविधा में परस्पर सेवा-सहायता का काम तथा उत्तरदायित्व बाँट लेने की जो सुविधा रहती है वह अलग रहने पर कैसे संभव हो सकती है ? बहुएँ जब तीन-चार छोटे-छोटे बच्चों की माता बन जाती हैं तो अलग घर बसाने पर नये प्रसव के समय कितनी असुविधा होती है यह वे ही जानती हैं । सम्मिलित कुटुम्ब में बच्चों का भार माता पर बहुत कम आता है । भरे पूरे कुटुम्ब में वे ऐसे ही साथ-साथ खाते-खेलते, बढ़ते और पलते रहते हैं जबकि अलग घर में बहू को उन बच्चों से ही किसी प्रकार फुरसत नहीं मिलती । हारी-बीमारी के दिनों में सम्मिलित कुटुम्ब का जो सुख है, वह अकेलेपन में कहाँ है ? हँसते-बोलते साथ-साथ सामूहिक जीवन में जिंदगी देखते-देखते बीत जाती है पर अकेलेपन में एक-एक दिन भारी पड़ता है ।

आत्म संयम और इन्द्रिय निग्रह का जितना अवसर सम्मिलित कुटुम्ब में रहता है उतना अकेले रहने में कहाँ है ? सबकी रुचि का ध्यान रखकर आहार-विहार का कार्यक्रम, दिनचर्या की व्यवस्था बनानी पड़ती है । उच्छृंखलता और स्वेच्छाचार पर वहाँ पूरा नियंत्रण रहता है । ऐसे वातावरण में युवावस्था वाले बुरी संगति से सहज ही बच जाते हैं । अकरणीय कर्म करने का अवसर ही जब न मिलेगा तब पतन की गुंजायश ही कहाँ रहेगी ? भरे पूरे घरों की लड़कियों और लड़कों को शिष्टाचार बरतना सीखना पड़ता है । बड़ा परिवार सदा से प्रतिष्ठा का सूचक माना जाता है । अभिभावकों के न रहने पर भी विधवाएँ तथा बच्चे अपने को अनाथ अनुभव नहीं करते ।

भारत कृषि प्रधान देश है । यहाँ का प्रमुख उद्योग कृषि है । इस धंधे में

कई व्यक्ति घर के हों और सब मिलकर काम करें तो ही लाभ हो सकता है । बँटवारा करके छोटी-छोटी जोतें, छोटे-छोटे परिवारों द्वारा कमाई जाँय तो उनमें क्या लाभ रहेगा ? अन्य व्यापारों में भी ऐसा ही है कि घर के कई आदमी सच्चे मन से मिल-जुलकर काम करें तो उसमें जो लाभ होगा वह नौकर रखकर या अकेले-अकेले में नहीं हो सकता । बच्चों में शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता एवं मिल-जुलकर काम करने की जो महत्वपूर्ण प्रवृत्ति विकसित होती है वह अकेलेपन में रहते हुए संभव नहीं होती ।

पिता-माता की सेवा करके उनका आशीर्वाद लेने का, भाई-बहिनों की सेवा-सहायता करने का, बच्चों के साथ खेलने-खिलाने का, मिल-जुल कर खाने-बैठने का, एक दूसरे के प्रेम और विश्वास का जो लाभ इकट्ठे रहने में मिलता है, वह अकेले रहने वालों को कहाँ मिलेगा ? मरघट के पीपल की तरह वह बेखटक खड़ा तो रहता है पर सूनेपन में उसे मानसिक दृष्टि से भारी अभाव ही बना रहता है । उलझनों और जिम्मेदारियों का बोझ भी अकेले रहने पर अकेले ही भुगतना पड़ता है, जो कई बार अलग जीवन की सुविधा की अपेक्षा बहुत अधिक चिंता और कष्ट का कारण बनता है ।

कई लोग जहाँ इकट्ठे रहेंगे वहाँ कई तरह की समस्याएँ उत्पन्न होती रहेंगी । उन्हें आगे बढ़ने से पूर्व ही सुलझाते रहा जाय तो हमारे परिवार सच्चे प्रजातंत्र बने रह सकते हैं और उनके स्वस्थ विकास से सभ्य समाज का निर्माण होने में भारी योगदान मिल सकता है । परिवार को सुव्यवस्थित बनाया जाय, उनकी एक व्यवस्थित आचार संहिता रहे जिसका सब लोग पालन करें । जिस प्रकार सरकार चलाने के लिए विधान और कानून बने हुए हैं, पंचायतों की व्यवस्था पंचायत एक्ट के मुताबिक चलती है, उसी प्रकार भारतीय परिवारों की भी एक आचार संहिता रहनी चाहिए । उसके अनुसार कार्य करते हुए प्रत्येक अपने कर्तव्यों का पालन और अधिकारों का उपयोग करता रहे तो हमारे घर स्वर्गीय वातावरण से ओत-प्रोत हो सकते हैं ।

परिवार का मेरुदंड पत्नी होती है । पुरुष दिन भर घर से बाहर रहता है । जितनी देर घर पर रहता है उसमें भी अधिकांश समय शौच, स्नान, भोजन, निद्रा

आदि नित्य कर्मों में लग जाता है । प्राय: सारा दिन स्त्री को घर पर रहना होता है । उसका ही सीधा संबंध परिवार के छोटे-बड़े सब से रहता है । घर की अन्य स्त्रियाँ तथा बच्चे तो दिन भर घर ही रहते हैं, उनके साथ पूरा व्यवहार क्रम पत्नी को ही चलाना पड़ता है । पुरुष जब घर आते हैं तो उनकी व्यवस्था भी उसी को करनी पड़ती है । इसलिए घर का व्यवहारिक संतुलन बनाये रखना प्राय: स्त्री के हाथ रहता है । पुरुष आर्थिक समस्याएँ हल कर सकते हैं, सुख-सुविधा के साधन जुटा सकते हैं पर दिन भर की पारिवारिक व्यवस्था का नियमित और परिपूर्ण संचालन वे नहीं कर सकते, यह कार्य स्त्री को ही करना होता है । स्वास्थ्य, शिक्षा, संस्कृति एवं भावना की परिपूर्ण व्यवस्था रखनी चाहिए । कुछ दोष-दुर्गुण सबमें होते हैं, हममें से किसी की भी पत्नी ऐसी नहीं होती जो पूर्णतया सब प्रकार उपयुक्त हो । माँ-बाप के घर से कुछ शिक्षा लेकर स्त्रियाँ आती हैं, कुछ बातें उनमें जन्मजात भी होती हैं, पर सबसे अधिक निर्माण कार्य ससुराल में होता है । ससुराल में भी यह कार्य विशेष रूप से पति करता है । पति यदि सुयोग्य हो तो फूहड़ से फूहड़ पत्नी को सद्गुणों की खान और उन विशेषताओं से संपन्न बना सकता है जो पारिवारिक जीवन को सुसंचालित रखने के लिए आवश्यक हैं ।

गृहस्थ की दुर्दशा

बच्चों के बढ़ने के साथ ही माँ-बाप के हृदय में उनका विवाह करके घर बसाने की, सुखी-समृद्ध बनाने की बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ उठने लगती हैं । माँ सोचती है-"नई बहू का मुँह देखकर कब सौभाग्यवान बनूँगी ?" उधर पिता भी सोचते हैं-"नई बहू आकर घर को स्वर्ग बनायेगी ।" घर का प्रत्येक सदस्य नई बहू के लिए किसी न किसी सुखद कल्पना में अवश्य खोया रहता है । स्वयं लड़के-लड़कियाँ भी संसार के अनुभवों से शून्य अपनी मधुर कल्पनाओं में कुछ कम खोये-खोये नहीं रहते । कई तो इस संबंध में अनजान भी रहते हैं । माँ-बाप की लालसा तीव्र हुई कि झट से संबंध तय हो जाते हैं । बाजे बजते हैं । उत्सव मनाया जाता है । शहनाइयाँ गूँजती हैं और धूमधाम के

साथ विवाह-आयोजन संपन्न होते हैं । नई बहू घर में आती है ।

समय के बीतने के साथ ही नई बहू का आकर्षण भी कम होने लगता है । कुछ ही समय बीतता है कि कई बातें ऐसी पैदा हो जाती हैं जिनसे सास-बहू में खटकने लगती है । परस्पर ताने, फटकारें, दुर्वचनों का व्यवहार होने लगता है । घर की बेटी भी अपनी माँ का पक्ष लेकर भावज पर बरसती है ।

रात-दिन घर में होने वाली चख-चख जो पहले नहीं होती थी, उसका कारण बहू को समझ कर कुलपति श्वसुर भी बहू और उसके कुल की बुराइयाँ बखानने लगते हैं । स्त्री और बेटी द्वारा कान भर देने पर तो उनकी स्थिति और भी असंतुलित हो जाती है ।

गृह-कलह, माँ-बाप द्वारा आरोप-प्रत्यारोप, उधर बहू द्वारा अपने कष्टों की शिकायत सुनकर पति भी परेशान हो जाता है । वह दोनों ही पक्षों से अनन्यता के नाते कुछ कह नहीं सकता । समय के बीतने के साथ ही रात-दिन की अशांति से वह और भी अधिक असंतुलित हो जाता है । माँ, बाप अथवा बहू पर अपनी अशांति प्रकट करता है ।

उधर बहू जो अपने माता-पिता, भाई-बहिन, घर वालों से बिछुड़ कर पति-गृह में सुख के स्वर्णिम स्वप्न लेकर आई थी, वह यह सब देखकर घबड़ा जाती है । पति-गृह में चारों ओर से बरसने वाली गालियाँ, तिरस्कार, आरोप, प्रत्यारोप, आलोचनायें, तिरस्कार आदि उसके धैर्य को विचलित कर देते हैं । संसार की कठोरता से अनजान, अज्ञ, कोमल, भावनाशील युवती इन परिस्थितियों में अधिक दिन संतुलित नहीं रह पाती और एक न एक दिन उसका मानस उद्वेलित हो उठता है । अपने स्वातंत्र्य, मौलिक अधिकार, माँ-बाप के गौरव, स्वाभिमान पर चोट पड़ने से उसकी कोमल भावनायें कठोर और विद्रोही बन जाती हैं और फिर उसका उद्वेलित मानस गृह कलह की आग में घी का काम देता है । कई तेज मिजाज बहुएँ तो बड़ी लड़ाका और रौद्ररूप बन जाती हैं । सारे घर की शांति काफूर हो जाती है । जो बहुएँ बहुत ही संकोची और सुशीला होती हैं वे चिंता, क्लेश, अवसाद, मानसिक घुटन में घुल-घुल कर अपना जीवन नष्ट कर लेती हैं । कई विक्षिप्त हो जाती हैं तो कई

अन्य माध्यमों से अपने जीवन की इतिश्री तक कर लेती हैं । इन सभी परिस्थितियों में हमारे गृहस्थ-जीवन की दुर्दशा, तपन, विनाश निश्चित है । अनेक गृहस्थियाँ इसी कारणवश उजड़ती, नष्ट-भ्रष्ट होती देखी जा सकती हैं ।

गृहस्थ-जीवन की इस दुर्दशा से अधिकांश परिवार ग्रस्त हैं । परस्पर कलह, लड़ाई-झगड़े, मनमुटाव, परस्पर आरोप-प्रत्यारोप, दोषारोपण, मतभेद आदि की विष-बेल ने परिवार के सभी सदस्यों को जकड़ लिया है । जिससे हमारे पारिवारिक जीवन की सुख-समृद्धि, उन्नति-प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो गया है । गृहस्थ-जीवन की इस दुर्दशा ने व्यक्ति की शक्तियों को नष्ट कर उसे पंगु बना दिया है । जीवित होते हुए भी वह गृह-कलह के विष-दंश से पीड़ित होकर निर्जीव-सा बनता जा रहा है । निराशा, उदासी, मानसिक घुटन में घुल-घुल कर उसका जीवन सत्व नष्ट होता जा रहा है ।

व्यक्ति से ही समाज और समाज से ही राष्ट्र बनते हैं । ऐसा व्यक्ति जिसका परिवार अंतर्कलह से ग्रस्त है, समाज और राष्ट्र के निर्माण में क्या योग दे सकता है ? गृहस्थ जीवन, जिसके ऊपर समाज और राष्ट्र की स्थिति निर्भर है, उसकी इस दुर्दशा का समाधान किए बिना सुख-शांति, उन्नति, विकास की कल्पना करना एक विडंबना होगी । जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन की दुर्घटना ग्रस्त गाड़ी के मलबे में दबा हुआ सिसक रहा है, वेदना से छटपटा रहा है वह समाज अथवा राष्ट्र के कल्याण के लिए सोच ही क्या सकता है ? और क्या कर सकता है ?

पारिवारिक जीवन की गाड़ी सदस्यों के त्याग, प्रेम, स्नेह, उदारता, सेवा, सहिष्णुता और परस्पर आदर भाव पर चलती है । परिवार सहअस्तित्व, सामूहिक जीवन, सेवा और सहिष्णुता की पाठशाला माना गया है । किंतु परस्पर के संबंध स्वार्थपूर्ण आपापूती, संकीर्णता, असहिष्णुता से भर जाते हैं तो परिवार नरक की साक्षात् अभिव्यक्ति के रूप में परिणत हो जाते हैं ।

पारिवारिक जीवन की दुर्दशा का मुख्य कारण है व्यावहारिक जीवन की शिक्षा का अभाव । लड़के और लड़कियों को अनुभवी वृद्ध गुरुजनों के संपर्क में रहकर व्यावहारिक जीवन में जीने की जो शिक्षा मिलनी चाहिए उसका

आजकल सर्वथा अभाव है । विवाह से पहले कन्या को यह शिक्षा नहीं मिलती कि उसे पति-गृह में जाकर कैसे जीवनयापन करना है ? उसका कर्तव्य उत्तरदायित्व क्या है ? उसे किन-किन सद्गुणों के द्वारा परिवार की गाड़ी को चलाना है ? यही बात लड़कों के संबंध में भी है । पारिवारिक जीवन की शिक्षा का अभाव ही गृहस्थ जीवन की दुर्दशा का मूल कारण है ।

परिवार-निर्माण के सूत्र

अपने परिवार के जिन लोगों को नियति ने एक सूत्र में बाँध कर हमें सौंपा है, उनमें भी अन्य मनुष्यों की तरह दोष-दुर्गुण होने संभव हैं । उनकी प्रतिक्रिया अपने मन पर प्रतिकूल होनी भी स्वाभाविक है । पर यह स्थिति अकाट्य नहीं है । कोई बुद्धिमान चाहे तो इसे बदल भी सकते हैं । दोषों की भांति गुण भी हर किसी में होते हैं । अपने परिवार के जिन व्यक्तियों को हम दोषयुक्त देखते हैं उनमें भी कुछ गुण होंगे ही । यदि उन गुणों पर अधिक ध्यान दिया जाय, बढ़ावा और प्रोत्साहन दिया जाय तो निश्चय ही उनकी मात्रा बढ़ेगी । बहुत चर्चा करने से दोष भी बढ़ते हैं और गुण भी बढ़ते हैं । दोषों की चर्चा कम करके गुणों को कहा, सुना और समझा जाय तो निश्चय ही यह सुधार का बहुत अच्छा तरीका सिद्ध होगा । उपेक्षा करने से दोष भी घट जाते हैं ।

दोषों की चर्चा बार-बार सुनने से मनुष्य हताश होता है, अपने को तिरस्कृत अनुभव करता है और धीरे-धीरे निर्लज्ज एवं ढीठ बनता चला जाता है । कभी एकांत में बहुत आदर और प्रेमपूर्वक वातावरण में दोषों की ओर ध्यान दिलाना, जिन परिस्थितियों में उसे उन भूलों का शिकार बनना पड़ा उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करना और अंततः उन्हें छोड़ने के लिए कोई व्यवहारिक तरीका भी सुझाया जाना चाहिए । इस प्रकार किसी की बुराइयों को घटाने या हटाने में सुविधा होगी । किंतु यदि उसे सबके सामने तिरस्कृत एवं लांछित किया जायगा तो वह भूल को छोड़ने की अपेक्षा चिढ़कर और उलटा आचरण करेगा । दबाव से तत्काल किसी को विवश किये जाने पर केवल सामयिक रोकथाम हो सकती है । दबा हुआ असंतोष एवं प्रतिरोध किसी अन्य

रूप में फूटता है तो वह और भी बुरा पड़ता है ।

दोषों को सुधारने के लिए बहुत ही धैर्य और संयम की आवश्यकता है । प्रेम, सेवा और सहानुभूति से लोगों के मन पर अपनी छाप छोड़ने वाले लोगों के अनुरोध पर कठोर मन वाले लोगों का भी हृदय परिवर्तन होते देखा गया है । सहनशीलता, क्षमा और उदारता के आधार पर बुरों को भला बनाया जा सकता है । आतंक, गाली-गलौज, मार-पीट, दबाव, निंदा, दुराग्रह के आधार पर क्रिया तो रुक सकती है पर मन नहीं बदल सकता । जिसका मन नहीं बदला वह सुधरा कहाँ ? भीतर ही भीतर सुलगते रहने वाली चिनगारी तो कभी विस्फोट के रूप में प्रकट हो सकती है । इसलिए सुधार के कार्य में धैर्य रखने, प्रतीक्षा करने और क्रमिक परिवर्तन होने का तरीका ही अच्छा है । हमारी इच्छानुसार दूसरे लोग तुरंत सुधर जाँय ऐसी अधीरता से लाभ नहीं, हानि ही होती है ।

जो लोग अपने साथ संबद्ध हैं उनको साथ लेकर चलने के लिए उदारता और सहनशीलता का भारी महत्व है । शंकर जी को सबसे बड़ा देवता इसलिए माना गया है कि उनके समाज में भूत, पलीत, सर्प, सिंह सभी के लिए आदरपूर्ण स्थान प्राप्त है । जिनके मस्तक पर ज्ञान की गंगा और प्रेम का चंद्रमा विराजमान होता है सचमुच वे बड़े उदार होते हैं और अपने साथ खोटे-खरे सभी को निवाह लेते हैं । कितने ही उदारहृदय व्यक्ति अपनी फूहड़, कर्कशा, कुरूप, रोगिणी, मूर्खा यहाँ तक कि शीलरहित पत्नी को भी बड़े आदरपूर्वक जीवन भर निबाहते हैं और अपनी ओर से कर्तव्य-पालन में रत्तीभर भी कमी नहीं रहने देते । इसी प्रकार उदार महिलाएँ अपने पतियों में अनेक दोष रहते हुए भी उन्हें सहन करती हुईं, निबाहती हुईं जिन्दगी पूरी कर लेती हैं । यह बड़प्पन का चिह्न है । मनुष्यता का गौरव इस प्रकार की सहनशीलता में ही होता है ।

कई बार बुढ़ापे की कठिनाइयों के कारण माता-पिता चिड़चिड़े हो जाते हैं और अनुपयुक्त बातें करने लगते हैं । समझाने-बुझाने में अपना अपमान मानते और खिन्न होते हैं । इन परिस्थितियों में सहनशीलता ही सबसे उपयोगी

नीति सिद्ध होती है । उनकी बातों को धैर्य और सहानुभूति के साथ सुना जाय और जितना संभव हो उतना आदेश तुरंत मान कर बाकी बात को पीछे के लिए छोड़ दिया जाय तो तात्कालिक झंझट तुरंत शांत हो सकता है ।

कई बच्चे बड़े नटखट होते हैं, उनके नये रक्त की चंचलता उन्हें कुछ न कुछ करने को विवश करती है । अनुभव के अभाव में जो करते हैं वह गड़बड़ जैसा बन जाता है । इन परिस्थितियों में बच्चों पर बरस पड़ना, उन्हें बुरी तरह धमकाना या तिरस्कृत करना, अपना माथा ठोकना और खिन्न होना उचित नहीं, उनकी कुछ बातों को अनदेखा, अनसुना किया जा सकता है, कुछ को हँस-मुस्करा कर विनोद के रूप में लिया जा सकता है, कुछ के लिए उन्हें मीठी झिड़की दी जा सकती है और कुछ ऐसा भी सुझाया जा सकता है कि वे किसी उपयोगी खेल या कार्य में अपनी चंचलता को प्रयुक्त कर सकें । इस प्रकार बालकों के ऊधम से नाकोंदम रहने वाली समस्या सहनशीलता के आधार पर बहुत ही हलकी और छोटी प्रतीत होने लग सकती है ।

शरीर में नये खून की तेजी और मस्तिष्क में अनुभव की कमी होने के कारण अक्सर घर के वयस्क लड़के-लड़कियाँ कुछ न कुछ ऊटपटांग करते रहते हैं । उनमें जोश तो होता है पर होश नहीं । पच्चीस वर्ष से कम आयु 'गधा पच्चीसी' कही जाती है । उस अवधि में होशियार बच्चों में भी न्यूनाधिक गधापन बना रहता है । इस उम्र के बच्चों पर काबू रखना भारी चतुरता और दूरदर्शिता का काम है । समझाना, धमकाना, प्यार, प्रोत्साहन देना, सहन करना इन सभी साधनों का समन्वय करके नवयुवकों का मार्गदर्शन संभव होता है । राजा जिस प्रकार साम, दाम, दंड, भेद की नीति के सहारे प्रजा पर शासन करता है, उसी प्रकार परिवार का संचालन करने के लिए गृहपति में आवश्यक दूरदर्शिता रहनी चाहिए ।

आतुर, उत्तेजित, असहिष्णु, अधीर, निराश, कटुभाषी, छिद्रान्वेषी, प्रकृति के गृहपति अपने इन्हीं दोष-दुर्गणों के कारण सारे परिवार को अव्यवस्थिति कर देते हैं । घर के सदस्यों में एक-दो ऐसे भी हों जिनका व्यक्तित्व निखरा हुआ न हो तो बाकी लोग उन्हें निबाहते हुए घर की व्यवस्था

बनाये रह सकते हैं । परस्पर मनोमालिन्य के अवसर मानवीय दुर्बलताओं के कारण प्रायः नित्य ही आते रहते हैं । समझदार लोग उनकी उपेक्षा करते हैं और आत्मीयता, सहिष्णुता एवं उदारता के आधार पर परिवार-संस्था को विघटित होने से बचाये रहते हैं । समाज में प्रतिष्ठा केवल उन्हीं परिवारों की सुरक्षित रहती है जिनमें दूरदर्शिता और उदारता की आवश्यक मात्रा मौजूद है । इसके अभाव में धन, विद्या, पद, प्रतिष्ठा आदि सब कुछ होते हुए भी क्षुद्रता और संकीर्णता के कारण घटित होती रहने वाली छोटी-छोटी घटनाओं के कारण वह परिवार अपनी प्रतिष्ठा एवं सुदृढ़ता खोता चलता है और कुछ दिनों में वह बुरी तरह बिखर भी जाता है ।

परिवार का पालन ही नहीं निर्माण भी

समाज-सेवा का सबसे समीपवर्ती और सबसे सरल कार्यक्षेत्र हमारा परिवार ही हो सकता है । ईश्वर ने जिन प्राणियों के साथ रक्त-संबंध बना कर तथा कर्तव्य और उत्तरदायित्व के बंधनों में बांध कर परिवार रूप में प्रस्तुत किया है उनकी सेवा करना प्रत्येक दृष्टि से आवश्यक है । यों जितने अधिक मनुष्यों और प्राणियों की सेवा जितनी जिससे बन पड़े उतनी ही उत्तम है । पर कौटुंबिक उत्तरदायित्व तो अनिवार्य रूप से उठाने ही होते हैं, इनमें उपेक्षा बरतने से जो दुष्परिणाम निकलते हैं वे धर्म-कर्तव्य, समाज-हित और परिवार-संगठन की दृष्टि से बहुत ही विपरीत एवं घातक सिद्ध होते हैं । इसलिए सेवा-धर्म की ओर लक्ष्य रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को यह कार्य अपने घर से ही आरंभ करना चाहिए ।

यों अपने परिवार के लिए भोजन, वस्त्र की व्यवस्था सभी करते हैं । बच्चों की शिक्षा और विवाह का प्रबंध भी सबको करना पड़ता है । दवा-दारू, मनोरंजन तथा अन्य आवश्यक व्यवस्थाएँ भी समय-समय पर होती रहती हैं । इन कार्यों को गरीब, अमीर अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार उपेक्षा या उत्साह से किसी न किसी तरह पूरा करते ही रहते हैं । पर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात छूटी ही रह जाती है और वह है परिवार को संस्कारवान बनाना ।

सुसंस्कारों के अभाव में मनुष्य का व्यक्तित्व गिरा हुआ ही बना रहता है । जिसका व्यक्तित्व निम्न श्रेणी का है, वह भले ही धन, विद्या, स्वास्थ्य, सौंदर्य, प्रतिभा आदि की दृष्टि से कितना ही बढ़ा क्यों न हो, निकृष्ट प्रकार का जीवन ही व्यतीत करेगा । उसे न तो स्वयं ही आंतरिक शांति मिलेगी और न उसके संपर्क में रहने वाले सुखपूर्वक निर्वाह कर सकेंगे । दुर्गुणी व्यक्ति समाज के लिए, अपने लिए और परिवार के लिए अभिशाप ही सिद्ध होते हैं । इसलिए परिवार में सद्‌गुणों की, सुसंस्कारिता की अभिवृद्धि करना प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का एक आवश्यक धर्म-कर्तव्य माना गया है ।

परिवार की सबसे बड़ी सेवा एक ही हो सकती है कि घर के हर व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न किया जाय । जिस प्रकार अपनी त्रुटियों और बुराइयों को घटाने और हटाने की उपयोगिता है, उसी प्रकार 'परिवार-शरीर' के प्रत्येक अंग को, प्रत्येक परिजन को सुधरा हुआ एवं सुसंस्कृत बनाना आवश्यक है । यह कार्य दूसरे लोग नहीं कर सकते, स्वयं किये बिना यह उद्देश्य पूरा नहीं होगा क्योंकि घर वालों पर जितना अपना प्रभाव एवं अपनत्व है उतना दूसरों का नहीं हो सकता । घर के प्रभावशाली व्यक्तियों को ही यह कार्य अपने हाथ में लेना चाहिए ।

डाटने-फटकारने व भला-बुरा कहने, दोषारोपण एवं झुँझलाहट से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । जिस प्रकार अपने ऊपर झुँझला कर या लंबी-चौड़ी योजना बनाकर एक दिन में अपना सुधार नहीं हो सकता, उसी प्रकार परिवार की बहुत दिन की जमी हुई भली-बुरी स्थिति उतावली में नहीं बदली जा सकती । बंदर को तमाशा सिखाने वाले कलंदर जिस धैर्य, अध्यवसाय और सतत प्रयत्न से काम लेते हैं, वही रास्ता हमें भी अपनाना पड़ेगा । तोड़-फोड़ सरल होती है पर निर्माण कार्य कठिन है । मनुष्य की योग्यता और प्रतिभा उसकी रचनाशक्ति को देखकर ही आँकी जाती है । परिवार के निर्माण में बड़ी चतुरता, कुशलता, धैर्य, प्रेम, सहिष्णुता एवं आत्मीयता से काम लेना होता है । समय-समय पर साम, दाम, दंड, भेद की नीति अपनानी पड़ती है, तब कहीं शनैः शनैः अभीष्ट परिणाम सामने आता है ।

इसके लिए घरेलू पाठशाला एवं सत्संग–गोष्ठी के रूप में दैनिक शिक्षण क्रम का एक कार्यक्रम निर्धारित करना चाहिए । सुविधा के समय परिवार के सब लोग मिल–जुलकर बैठा करें और प्रेरणाप्रद प्रसंगों को लेकर वार्तालाप किया करें । दैनिक समाचार–पत्रों में छपने वाली कुछ भली या बुरी खबरों को लेकर उनकी आलोचना इस ढंग से की जा सकती है कि सुनने वालों पर भलाई के प्रति निष्ठा और बुराई के प्रति घृणा भाव पैदा हो । नई खबरें सुनने की सबको इच्छा रहती है । आकर्षक, मनोरंजक और विवेचनात्मक ढंग से खबरें सुनाने का कार्य घर के सभी लोग पसंद करेंगे । उनका मनोरंजन भी होगा, शिक्षा भी मिलेगी । इसी प्रकार महापुरुषों के जीवन–चरित्रों के कोई अंश, व्रत, पर्वों के इतिहास, पौराणिक उपाख्यान, कथा–गाथाएँ कहने का कार्यक्रम चलाया जाता रहे तो घर में सबका मनोरंजन भी होगा और अप्रत्यक्ष रूप में वे सब शिक्षाएँ भी मिलने लगेंगी जो परिजनों को सुसंस्कृत बनाने के लिए आवश्यक हैं ।

कभी–कभी घर की समस्याओं पर विचार–विनिमय भी करते रहना चाहिए । किसे क्या कठिनाई और क्या शिकायत है इसकी जानकारी परस्पर सब लोग रखते रहे और उसका हल खोजते रहें तो निश्चय ही वे बढ़ेंगी नहीं, घटेंगी ही । कड़ा प्रतिबंध लगा कर व्यक्तित्व की स्वंतत्रता को एकदम अवरुद्ध कर देना तो ठीक नहीं, पर प्रयत्न यह करना चाहिए कि सब लोग अपनी भूलों को समझने और सुधारने की आवश्यकता अनुभव करने लगें ।

अशिक्षा के विरुद्ध व्यापक अभियान आरंभ करने की जो अपनी योजना है, उसका आरंभ अपनी घरेलू ज्ञान–गोष्ठी ही से हमें आरंभ करना चाहिए । घर में जो बिना पढ़े हैं उन्हें पढ़ाना चाहिए । प्रयत्न यह करना चाहिए कि कोई भी निरक्षर न रहे । निरक्षरता मानव–जीवन का एक कलंक है । इस कलंक से अपने घर के सभी सदस्यों को मुक्त कर लेना चाहिए । हम में से एक भी ऐसा न हो जिसकी स्त्री बिना पढ़ी रह जाय । घूँघट और संकोच की मूर्खता को इस पुनीत कार्य में जरा भी आड़े नहीं आने देना चाहिए । घर के बड़े–बूढ़ों को इस कार्य में अपनी सहमति देने के लिए रजामंद करना चाहिए । एकांत समय में तो

उनकी बिना सहमति के भी शिक्षण चल सकता है । जो स्त्रियाँ बड़ी आयु की हो चुकीं या जिन घरों में पर्दा नहीं होता वहाँ तो यह कठिनाई भी नहीं आती । कई बार बड़ी आयु की स्त्रियाँ इसे व्यर्थ समझती हैं, कहती हैं-"हमें कोई नौकरी थोड़े ही करनी है जो पढ़ें ।" उन्हें समझाना चाहिए कि पढ़ना, ज्ञान के नेत्र खोलने के लिए होता है, नौकरी के लिए नहीं । शिक्षा की उपयोगिता समझा कर तरुण, अधेड़ और बूढ़ों को भी इस कार्य के लिए तैयार किया जा सकता है । यदि अपना स्वभाव मधुर और उत्साह पक्का है तो आज नहीं तो कल, घर के निरक्षर लोग साक्षर बनने को उद्यत हो ही जावेंगे ।

(१) सामूहिक अथवा व्यक्तिगत रूप में ईश्वर उपासना, (२) शरीर और वस्त्रों की सफाई, (३) वस्तुओं को यथास्थान सुव्यवस्थित रूप से रखना, (४) बड़ों का नित्य अभिवादन करना, माता-पिता एवं वृद्धों के चरण छूना, (५) शृंगार एवं विलासिता के उपकरणों को छोड़कर सादगी अपनाना, (६) रात को जल्दी सोना और प्रातः जल्दी उठना, (७) निर्धारित दिनचर्या बनाकर निरंतर व्यस्त रहना, आलस्य को पास भी न फटकने देना, (८) गाली देना या 'तू' का संबोधन तथा कटु भाषण छोड़कर मधुर वाणी से विनम्र संभाषण करना, (९) आमदनी और खर्च का लिखित हिसाब रखना, (१०) टूटी-फूटी वस्तुओं की मरम्मत करके उन्हें पूर्ण निरुपयोगी होने तक काम में लेना, (११) भोजन को सात्विक रखना, आहार संबंधी नियमों का पालन करना और भगवान को भोग लगा कर खाना, (१२) श्रम एवं व्यायाम की व्यवस्था रखना, (१३) हँसमुख रहना, (१४) एक दूसरे की सुविधा तथा सम्मान का ध्यान रखना, (१५) आगंतुकों के साथ शिष्टाचार बरतना, (१६) सद्विचारों का पढ़ना-सुनना आदि कितनी ही अच्छाइयाँ ऐसी हैं जिनका प्रवेश प्रत्येक परिवार में होना ही चाहिए । घर के वातावरण में जितना प्रेम, सौजन्य रहेगा, श्रम, सादगी और रचनात्मक उत्साह को स्थान मिलेगा, उतना ही वहाँ उत्कर्ष एवं उल्लास दृष्टिगोचर होने लगेगा ।

इन रचनात्मक सुधार-कार्यों के लिए मौखिक उपदेश ही पर्याप्त न होगा वरन् यह प्रयत्न भी करते रहना पड़ेगा कि घर के अन्य सदस्यों का सहयोग प्राप्त

कर इन कार्यक्रमों को व्यावहारिक रूप मिले । सब लोग न सही, आरंभ में थोड़े सदस्य भी इस प्रकार आचरण करने लगें, तो शेष पर भी देर-सबेर में प्रभाव पड़ेगा और वे भी इन अच्छाइयों को अपनाने के लिए विवश होंगे ।

परिवार को सभ्य, सुशिक्षित, सच्चरित्र एवं विवेकशील बनाने के लिए प्रयत्न करना प्रत्येक विचारवान् मनुष्य का आवश्यक धर्म-कर्तव्य है । उसे पूरा करने से हम अपना उत्तरदायित्व पूरा करते हैं, समाज को सुसंस्कृत बनाने में भारी योगदान देते हैं और अपने बगीचे के सुविकसित होने से स्वयं भी लाभान्वित होते हैं ।

पारिवारिक पंचशील सिद्धांत

दुर्भावना के वातावरण में पंचशील के सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय जगत में भले ही सफल न हुए हों पर पारिवारिक जगत में वे सदा सफल होते हैं । पारिवारिक पंचशील पालन करने से घर में शक्ति बनी रहती है और प्रेम तथा सुव्यवस्था का वातावरण बना रहता है । पारिवारिक पंचशील यह हैं-

१-परस्पर आदर-भाव से देखना

परस्पर के दोषों को देखकर आलोचना करना अनुचित है । सभी मनुष्यों में कमजोरियाँ हैं । भूल होना भी मनुष्य का स्वभाव है । प्रत्येक व्यक्ति आपके घर का सदस्य होने के कारण उसका भी उस घर पर पूरा अधिकार है ।

यदि रुचि में साम्य न हो अथवा मत वैभिन्नता हो तो वह निरादर का पात्र नहीं है । यह संभव नहीं है कि आपकी रुचि सब से मिल सके ।

छोटे बच्चे भी आदर के पात्र होते हैं । वे भी अपने आदर-निरादर को समझते हैं । यदि आप किसी बच्चे से स्नेह से बोलेंगे तो वह निश्चय ही आपके गले से लिपट जायगा । यदि आप उसे झिड़क देंगे तो वह कभी आपके पास आने का नाम भी नहीं लेगा ।

कड़वी बात जहर से भी बुरी होती है । यदि आपकी वाणी मधुर नहीं है तो जीवन में कटुता बढ़ती ही चली जायगी । घर के किसी सदस्य की तीखी आलोचना करना अवश्य ही बर्दाश्त से बाहर हो सकती है । आपकी भ्रांत

धारणा, चाहे वह भ्रांत न होकर सत्य ही हो तो भी, दूसरे पर तीखी चोट कर सकती है और तब वाणी का वह घाव बड़ी कठिनाई से भर सकता है ।

विद्वानों का कहना है कि मनुष्य तलवार के घाव से नहीं घबराता, वह उसे हँसते-हँसते सह लेता है परंतु वाणी का घाव कलेजे में गहरा होता जाता है और वह जीवन भर भरने में नहीं आता ।

२-अपनी भूल स्वीकार करना

चेष्टा यह करनी चाहिए कि मतभेद की नौबत ही न आने पावे । अपनी ओर से कोई ऐसी बात मत आने दो जिससे कोई विवाद हो जाय, बल्कि दूसरी ओर से होने वाले विवाद को भी शांतिपूर्वक निपटा देना ही बुद्धिमानी है ।

अपने द्वारा हुई भूल को तुरंत स्वीकार कर लीजिए । आपकी इस स्पष्टवादिता और आदर्श मनोवृत्ति का दूसरों पर अवश्य ही प्रभाव पड़ेगा । यदि आप भूल करके भी उसे स्वीकार नहीं करते तो दूसरों पर उसकी गलत प्रतिक्रिया होगी और क्षमाभाव के बजाय मन में भ्रांत धारणा बनी रहेगी ।

परस्पर विरोध रहने के कारण अनबन चल रही हो तो उस अनबन को समझौते द्वारा तै कीजिए और आगे के लिए ऐसा ढंग अपनाइये कि समस्या जटिल न होने पावे । अनबन का अंत यदि शीघ्र ही नहीं होता तो वह धीरे-धीरे भीषण रूप धारण कर लेती है और फिर उसका समाधान बहुत कठिन हो जाता है ।

३-आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना

सभी के विचार पृथक-पृथक हो सकते हैं । यदि आपके परिवार के किसी सदस्य के विचार आप से नहीं मिलते और वह अपनी विचारधारा के अनुसार कार्य करता है तो उसके मार्ग में रुकावट न डालिए । उदाहरण के लिए मान लीजिए कि आप राम के उपासक हैं और आपका पुत्र शिव की उपासना करता है, वह राम को नहीं मानता तो उसे अपने मन के अनुसार करने दीजिए । अथवा आप किसी एक राजनैतिक दल से संबद्ध हैं और आपका पुत्र किसी अन्य राजनैतिक दल का सदस्य हो जाता है, तो उसके इच्छित कार्य से रुष्ट मत होइए । यदि आप उसके विचारों के प्रति अपना दृष्टिकोण उदार रखेंगे तो किसी प्रकार के गृह-कलह की संभावना न रहेगी ।

४-भेदभाव न रखना

घर में भेदभाव भी कलह का कारण बन जाता है । आपके दो पुत्र है-एक को अच्छा भोजन-वस्त्र देते हैं और दूसरे को वैसा नहीं देते तो यह भेद अवश्य ही खटकने वाला होगा । हाँ, परिस्थितिवश एक को एक प्रकार की सुख-सुविधा और दूसरे को दूसरे प्रकार की सुख-सुविधा देते हैं तो वह आपका दोष नहीं होगा । फिर भी यदि उनमें से किसी एक को वह बात खले तो उसे भी ठीक करने की चेष्टा करनी चाहिए ।

५-विवादों का निष्पक्ष निपटारा

किसी मामले में आपको मध्यस्थ बनाया जाय तो आप एकदम सत्यता पर आ जाइये । कोई कितना ही प्रिय हो, यदि उसके द्वारा ज्यादती हुई है तो उसकी ज्यादती की घोषणा कीजिए और जिसकी हानि हुई है उसके मन का संतोष कीजिए । यदि आप निष्पक्ष न रहे तो आपको उसका भीषण परिणाम भुगतना पड़ेगा ।

आपका सम्मान इसी में है कि आष सबके विश्वास-भाजन बनें । यदि आप सबको एक समान समझेंगे तो परिवार के सभी सदस्य आपकी बात मानने में संतोष करेंगे । अनजाने में यदि आपसे कभी कोई भूल हो भी जायगी, तो उसका कोई ख्याल नहीं करेगा और आपकी प्रतिष्ठा ज्यों की त्यों बनी रहेगी ।

एक कहावत है कि चार बर्तन होते हैं तो खटकते ही हैं । अत: घर में कभी कुछ कलह उपस्थित हो जाय तो उसे मनुष्य स्वभाव की कमजोरी मान कर अधिक तूल मत दीजिए । झगड़ों को शांत करने का एक बहुत बड़ा नुस्खा है-त्याग । यदि आपने किंचित् भी त्याग प्रदर्शित किया तो, झगड़ा समाप्त होने में देर न लगेगी ।

झगड़ों को युद्ध की सी चुनौती के रूप में मत मानिए । विपक्षी का दमन करने की बात मत सोचिए । बल्कि झगड़े के कारण पर विचार कीजिए और प्रयत्न कीजिए कि वह कारण दूर हो जाय । यदि ऐसा हो सका तो झगड़ा दूर करने में आपको शीघ्र ही सफलता मिल जायगी ।

गृह कलह को समाप्त करने का यह प्रमुख सिद्धांत है । इस पर चल कर देखिये और सफलता मिले तो दूसरों को भी इसका उपदेश कीजिए । यदि आप अपने घर में ही पंचशील को सफल न बना सके तो बाहर उसकी सफलता की आशा कैसे कर सकेंगे ?

परिवार भी एक शरीर ही है ।

मनुष्य भी एक प्रकार का सामाजिक शरीर ही है । मनुष्य अपनी देह तक ही सीमित नहीं रहता वरन् उसे अपनी स्त्री, बच्चे, भाई-बहिन, माता-पिता आदि को मिलाकर एक कुटुम्ब बनाना पड़ता है । एक घर में एक साथ रहने वाला कुटुम्ब भी एक प्रकार से एक शरीर ही होता है । जिस प्रकार अपनी देह के पालन-पोषण की, दुःख-सुख की चिंता करनी पड़ती है, वैसे ही परिवार के प्रत्येक सदस्य के बारे में हमें सोचना, समझना और विचार करना पड़ता है । उनका उत्तरदायित्व सिर पर लेना पड़ता है । आर्थिक दृष्टि से भी अपनी देह की ही भांति उन सबका भरण-पोषण करना, स्वस्थ एवं प्रसन्न रखना, प्रगतिशील बनाना आवश्यक होता है । घर के लोगों का सुखी या दुःखी होना, अच्छा या बुरा होना अपने को उतना ही बुरा या भला लगता है जितना अपने शरीर के अंश का पीड़ित या प्रसन्न रहना ।

हर कोई चाहता है कि उसका परिवार उसकी इच्छानुकूल अच्छे स्वभाव का, अच्छे गुण और चरित्र का हो । पड़ोस का कोई परिवार दुःखी, अस्त-व्यस्त या क्लेश-कलह में डूबा हुआ हो तो लोग उसका उपहास करते हुए मजा ले सकते हैं, पर अपने परिवार का एक भी सदस्य यदि बुरे स्वभाव का दिखाई देता है या न करने योग्य काम करता है तो उसका सीधा प्रभाव अपनी आर्थिक स्थिति पर, प्रतिष्ठा पर, संगठन एवं व्यवस्था पर पड़ता है । इस गड़बड़ी से अपने को वैसा ही कष्ट होता है जैसा शरीर के किसी अंग के ठीक तरह काम न करने पर होता है । इसलिए हर किसी की आकांक्षा यह रहती है कि परिवार की भीतरी व्यवस्था और क्रिया प्रेम, सचाई, सेवा, सद्‌गुण, पुरुषार्थ, मितव्यता के आधार पर चले । घर का कोई सदस्य बाहर वालों को

धोखा देकर कमाई कर लावे, चोरी चालाकी करे, झूठ बोले, ठगे इसे तो प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लिया जाता है, पर घर के भीतर परिवार के सदस्य एक दूसरे के प्रति ऐसा ही व्यवहार करने लगें तो अव्यवस्था और क्लेश का वातावरण उत्पन्न हो जाता है । कोई यह नहीं चाहता कि मेरी स्त्री व्यभिचारिणी बने, मेरा पुत्र घर में से चोरी करके ले जाया करे, बच्चे आपस में लड़ा करें, एक भाई दूसरे भाई से सहानुभूति न रखे । कारण स्पष्ट है कि मानव-स्वभाव के दुर्गुण निश्चित रूप से कष्टकारक प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं ।

जो दुर्गुण घर के भीतर किसी सदस्य में प्रवेश पाकर घर की सारी व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर देते हैं, वे ही दुर्गुण समाज के व्यापक क्षेत्र में अशांति उत्पन्न करते हैं । यदि अपने घर का कोई सदस्य बाजार से सौदा मँगाने पर उसमें से पैसा बचा लेता है, गलत हिसाब बता देता है तो उसका प्रभाव घर की आर्थिक स्थिति पर पड़ता है और वह व्यक्ति घर के अन्य लोगों का अविश्वासपात्र बन जाता है एवं बड़ा आर्थिक उत्तरदायित्व सौंपे जाने के अयोग्य माना जाता है । यही बात जब बढ़ती है तो वह पैसे चुराने वाला लड़का बड़े होने पर यदि व्यापारी है तो अपने साझेदार से चोरी करता है, ग्राहकों को कम नापता-तोलता है, अथवा यदि नौकर है तो रिश्वतखोरी, समय की चोरी आदि बुराइयाँ पैदा करता है । ऐसे दुश्चरित्र लोगों की बात आखिर खुलती ही है । लोगों की आँखों में वह घृणा का पात्र बनता चला जाता है, अविश्वासी बनता है और फिर उसे सच्चे मन से प्यार करने वाला कोई नहीं रह जाता । शिष्टाचारवश उससे मींठी बातें लोग कर सकते हैं पर जब भी सच्चीं सहायता का वक्त आता है तब सभी मुँह छिपा जाते हैं । भीतर दबी हुई घृणा ऐसे समय में आमतौर से असहयोग के रूप में प्रकट होती है । कभी तो उसके मित्र ही उसके प्रति दबी हुई घृणा का अप्रत्यक्ष प्रतिशोध लेते हैं और मुसीबत के समय सहायता करने की अपेक्षा अनुकूल अवसर आया जानकर चोट भी करते हैं ।

जिस पर मित्रों ने कुसमय में चोट की है वह समझता है मेरे साथ दुर्व्यवहार किया गया, अनीति बरती गई, मित्र शत्रु बन गये । पर सच बात यह है कि वे उसके मित्र थे ही नहीं, केवल ऊपरी शिष्टाचार बरतने वाले चापलूस

लोग थे जो परीक्षा के समय असली रूप में प्रकट हो गए । सच बात यह है कि किसी बेईमान का कोई सच्चा मित्र नहीं होता । स्वार्थ, लाभ या मजबूरी जब तक एक रस्सी में बाँधे रहती है तब तक लोग बेईमान के साथ बँधे रहते हैं और जब भी अवसर मिलता है तब रस्सी तोड़कर भागते हैं । चोर भी यह नहीं चाहते कि उसका साथी चोरी के माल में हिस्सा बाँटते समय चोरी, बेईमानी करे । डाकू भी यह नहीं चाहते कि उनके साथी उन्हीं के घर पर डाका मारें । व्यभिचारी व्यक्ति इस कुकर्म में अपने दिन-रात साथ रहने वाले लोगों से भी यह आशा नहीं करते कि वे उसी की बहिन, बेटी या पत्नी को कुमार्गगामी बनावें । जब कभी इसमें व्यतिक्रम होता है तभी मित्रता शत्रुता में बदल जाती है । इसका अर्थ यह हुआ कि ईमानदारी ही एकमात्र ऐसा तत्व है जिसके ऊपर मित्रता टिकी रह सकती है, सहानुभूति उपलब्ध होती रहती है और समय पर दूसरे लोग उस श्रद्धा से प्रेरित होकर बड़ी से बड़ी सफलता प्राप्त कर सकते हैं । यह स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति यदि इस संसार में बड़ी सफलता प्राप्त कर सका है, तो उसका सर्वोपरि कारण उसके मित्रों की सहायता ही रहा है । जिसे यह नहीं मिल सकी वह कितनी ही बड़ी योग्यता या क्षमता संपन्न क्यों न रहा हो कभी कोई बड़ी सफलता प्राप्त नहीं कर सका है । झूठे और चोर प्रकृति के मनुष्य कभी-कभी कुछ सफलता प्राप्त कर तो लेते हैं पर वह होती बहुत ही क्षणिक एवं स्वल्प है । जैसे-जैसे लोग उससे सावधान होते जाते हैं, बचने की कोशिश करते हैं, वैसे ही वैसे उसकी सफलता का क्षेत्र सिकुड़ता चला जाता है और अंततः असफलता एवं दुर्गति ही उसके हाथ रह जाती है ।

कोई यह न चाहेगा कि उसका लड़का इस प्रकार लोगों का घृणास्पद, मित्रहीन एवं अंततः दुर्गति का अधिकारी बने । पर अपने बच्चे का भविष्य अंधकारमय बनाने की प्रक्रिया हम उसी दिन से चालू कर देते हैं जिस दिन कि बाजार से साग-भाजी खरीदने में पैसे बचाने की भद्दी आदत को हम उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं और उसे एक हलकी-सी बात मानते हैं । बचपन में यह आदत दो-चार पैसों से शुरू होती है, पीछे स्कूल जाते समय वह कापी, किताब के नाम पर बैठती है और अंततः जेवर, रुपये चुराने या लड़-झगड़ कर

आवश्यकता से अधिक पैसे ले लेने की बात तक जा पहुँचती है । अपव्यय करने की आदत आरंभ में छोटी होती है । बच्चे दो-चार आना पाकर उसकी बेकार चीजें खरीदते हैं, पीछे उन्हें शौक-मौज की चीजें खरीदना अच्छा लगता है चाहे वह बेकार ही क्यों न हों । कई अच्छी आमदनी के लोग भी सदा कर्जदार और आर्थिक तंगी में बने रहते हैं, क्योंकि उन्हें अनावश्यक खर्च करने, फिजूलखर्ची की बुरी लत लगी होती है । यह लत उनने बचपन में उस समय सीखी होती है, जब घर से उन्हें अनावश्यक खर्च करने के लिए किसी प्रकार पैसे मिल जाते थे और पैसे का मूल्य उनकी दृष्टि में तुच्छ प्रतीत होता था । यदि उन्हें आरंभ में ही यह समझा दिया गया होता कि पैसा कितने कठोर श्रम से कमाया जाता है और उसके सदुपयोग-दुरुपयोग के परिणामों में क्या अंतर है ? तो संभवतः बच्चा अपव्यय की बुरी आदतों से बच जाता और उसे कर्जदारी, आर्थिक तंगी से ग्रसित एवं इसके लिए चोरी, बेईमानी करने के लिए विवश न होना पड़ता ।

हम अपने भविष्य के बारे में सोचते रहते हैं । अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाने की योजना बनाते रहते है । पर वह योजना तब तक अधूरी ही है जब तक कि हम अपने सारे परिवार के भविष्य को उज्ज्वल बनाने की बात न सोचें, क्योंकि अकेले अपनी उन्नति होती रहने पर भी पिछड़े हुए कुटुम्बी त्रासदायक ही बने रहते हैं । कोई व्यक्ति कितनी ही आर्थिक, पद, सत्ता या विद्या-बुद्धि के क्षेत्र में उन्नति क्यों न कर ले, जब तक उसका परिवार भी उन्नति के क्षेत्र में कदम-कदम बढ़ाकर न चलेगा तब तक प्रगति सर्वथा अधूरी ही रहेगी । स्त्री, बच्चे चाहे कितने ही छोटे या कम महत्व के क्यों न दीखते हों, वे अपने जीवन के एक अंग होने के कारण निरंतर हमारी मानसिक शांति या अशांति के कारण बने रहेंगे । इसलिए उनकी ओर भी उतना ही ध्यान देना चाहिए जितना कि हम अपने व्यक्तित्व के संबंध में रख सकते हैं ।

आमतौर से लोग अपने स्त्री-बच्चों को प्रसन्न रखने या उन्नतिशील बनाने के संबंध में इतना ही सोच पाते हैं कि समुचित आर्थिक प्रबंध हो जाय तो उनकी प्रगति एवं संतुष्टि के लिए पर्याप्त है । बच्चों को फीस, पढ़ाई, कपड़ा,

जेबखर्च आदि का प्रबंध होता रहे तो बस बाकी सब कुछ अपने आप हो जायगा । इसी प्रकार धर्मपत्नी के बारे में सोचते हैं कि यदि उन्हें जेवर, कपड़ा, नौकर, आराम आदि का समुचित प्रबंध मिल जाय तो फिर उनके सुखी रहने का पर्याप्त साधन बन जायगा । इस प्रकार की मान्यता सब प्रकार अधूरी एवं निरर्थक है । किसी भी मनुष्य की प्रसन्नता एवं प्रगति उसे प्राप्त होने वाली भौतिक सुविधाओं एवं वस्तुओं पर निर्भर नहीं वरन उसके गुण, कर्म और स्वभाव पर निर्भर है ।

गरीबी में भी कई परिवार स्वर्ग का आनंद उठाते हैं और कई के यहाँ प्रचुर लक्ष्मी होते हुए भी नरक का वातावरण बना रहता है । कितने ही लोग गरीब घर में जन्म लेकर प्रगति के पथ पर अपने पुरुषार्थ से आगे बढ़े हैं और उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचे हैं । इसके विपरीत कितने ही व्यक्ति अमीरी में पले-पोसे और सब कुछ प्राप्त होने पर भी पूर्वजों से प्राप्त उत्तराधिकार की प्रचुर संपदा को गँवा बैठे हैं । उन्नति के सब साधन मिलने पर भी आगे बढ़ना तो दूर उल्टे अवनति के गर्त में गिरे हैं । इसलिए यह सोचना भूल है कि आर्थिक प्रबंध ठीक होने पर सारा प्रबंध सुखद एवं संतुष्टिदायी रह सकता है । तथ्य यह है कि शांति, प्रगति और समृद्धि मनुष्यों के स्वभाव पर निर्भर रहती है । दृष्टिकोण के गलत या सही होने के कारण ही द्वेष बढ़ता है या प्रेम पनपता है । अच्छी आदतें जहाँ होती हैं वहाँ पराये अपने बन जाते हैं । परायों को अपना बना लेने के सद्‌गुण जिनके पास हैं सचमुच इस संसार में वे ही अमीर हैं, वे जहाँ कहीं भी रहेंगे वहीं उनके मित्र और सहयोगी पर्याप्त मात्रा में पैदा होने और बढ़ने लगेंगे । गुलाब की खुशबू अपने चारों ओर भौंरे और मधुमक्खी जमा कर लेती है । अच्छी आदतें मनुष्य रूपी फूल में खुशबू का काम करती हैं, उनके कारण दूसरे असंख्य लोग मधुमक्खी और भौंरे के रूप में सहायक एवं प्रशंसक बनकर मँडराने लगते हैं । इसके विपरीत बुरी आदतें वह दुर्गंध हैं जिनसे हर किसी की नाक फटती है और हर कोई वहाँ से दूर भागना चाहता है ।

हम यदि सचमुच ही अपने परिवार को सुखी बनाना चाहते हैं तो परिवार की आर्थिक व्यवस्था ठीक रखने तक की ही बात सोचकर संतोष न कर लें

वरन् परिवार के सदस्यों के स्वभाव को अच्छाई की दिशा में ढालने का प्रयत्न भी उतनी ही तत्परता से करें जितना कि आर्थिक सुविधा जुटाने के लिए करते हैं । माना कि आर्थिक सुविधा के बिना प्रगति रुक जाती है और असुविधा एवं असंतोष का जन्म होता है, माना कि हममें से हर एक को अपना आर्थिक संतुलन ठीक बनाये रखने के लिए शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिए पर यह भी मान लेने की ही बात है कि इतने मात्र से किसी का जीवन न तो प्रगतिशील बन सकता है और न शांति का वातावरण ही बन सकता है । आदतें यों देखने में बहुत ही छोटी वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं । कई बार तो उनका कुछ मूल्य और महत्व भी समझ में नहीं आता । पर सच बात यही है कि उन्हीं के ऊपर जीवन की सारी आधारशिला रखी होती है । छोटा सा बीज ही अनुकूल परिस्थितियों में पाले-पोसे जाने पर विशाल वृक्ष के रूप में परिणत होता है । छोटी-सी आदतें ही मनुष्य के जीवन के विकास या विनाश का एकमात्र आधार होती हैं । विष वृक्ष और अमरफल के जैसे परस्पर विरोधी गुण हैं, वैसे ही प्रतिफल बुरी और अच्छी आदतों के होते हैं । यदि हमें अपने परिवार को सुखी और समुन्नत बनाना हो तो अपने प्रत्येक परिजन में अच्छी आदतें उत्पन्न करने के लिए जी-जान से प्रयत्न करना चाहिए ।

जिस प्रकार साग खरीदकर लाते समय बच्चे की पैसे बचा लेने की आदत आगे बढ़कर उसे चोर, बेईमान, मित्रहीन, बंदीगृह वासी एवं दुर्गतिग्रस्त बना सकती है, उसी प्रकार अन्य बुरी आदतें भी उसके पतन का कारण बन सकती हैं । आलस्य, आवेश, उद्दंडता, कटुभाषण, अशिष्टता, शौकीनी, मटरगस्ती, सिनेमाबाजी, बुरी संगति, फिजूलखर्ची, फैशनपरस्ती, चटोरपन, बहानेबाजी, समय का दुरुपयोग आदि दुर्गुणों के विषवृक्ष धीरे-धीरे बढ़ते रहने पर एक दिन ऐसे भयानक प्रतिफल उत्पन्न कर सकते हैं जिनके कारण जीवन में असफलता, दुर्दशा, पीड़ा और पश्चाताप के अतिरिक्त और कुछ दिखाई ही न दे । यदि कोई पिता अपने स्त्री, बच्चे के लिए आर्थिक सुविधायें तो जुटाता है पर उनकी अच्छी आदतों को बढ़ाने एवं बुरी आदतों को हटाने के लिए प्रयत्न नहीं करता तो उसका परिवार कभी भी शांतिपूर्ण परिस्थितियों में नहीं रह

सकता । जिसके घर में क्लेश रहेगा, अनुपयुक्त घटनायें और परिस्थितियाँ बनी रहेंगी वहाँ शांति कहाँ रहेगी और जहाँ शांति नहीं वहाँ समृद्धि का अर्थ ही क्या रह जाता है ?

देह के सभी अंग-प्रत्यंगों को जिस प्रकार हमें साथ ही रखना और संभालना होता है, उसी प्रकार परिवार के सदस्यों को भी साथ लेकर चलना होता है । साथियों का सज्जन होना ही स्वर्ग और दुर्जन होना ही नरक माना जाता है । यदि अपने परिजनों की दुर्जनता छुटाने और सज्जनता बढ़ाने में हम सफल न हो सके तो इसका दंड हमारी आत्मा हर घड़ी जलन, कुढ़न, खेद, पश्चाताप आदि के रूप में हमें देती रहेगी और एक प्रकार से नरक की आग में हम सदा जलते रहेंगे ।

परिवार के सदस्यों को दुर्गुणी बनने देना समाज एवं राष्ट्र के साथ अपराध करने के समान है । समाज में अगणित चोर, डाकू, बेईमान, व्यभिचारी भरे पड़े हैं । इन कलाओं को सीखने का कोई विधिवत् विद्यालय कहीं खुला नहीं है । हमारे घर ही इन बुराइयों को सिखाने की पाठशाला होते हैं । बच्चे चुपके-चुपके यहीं से सब कुछ सीखते हैं और यहीं से प्राप्त हुई आदतें उन भयंकर अपराधों का रूप धारण कर लेती हैं । शिक्षा का स्थान स्कूल हो सकते हैं पर दीक्षा का स्थान तो घर ही है । बेचारा अध्यापक गणित, भूगोल, इतिहास आदि को ही पढ़ा सकता है । गुण, कर्म, स्वभाव को उत्तम बनाने की दीक्षा देने का उत्तरदायित्व घर वालों पर है, माता-पिता पर है । जिन माता-पिता ने जान या अनजान में बुरी आदतें सिखाकर अपने बालकों को एक दुष्ट नागरिक के रूप में राष्ट्र के सामने उपस्थित किया उनने सचमुच समाज की एक बड़ी कुसेवा की है । बच्चों का भविष्य बिगाड़ने एवं अपने लिए जीवन भर कुढ़न का सरंजाम जमा कर लेने का उत्तरदायित्व भी उनका ही मानना पड़ेगा ।

परिजनों के सुधार की पूर्ण प्रक्रिया

हम चाहते हैं कि हमारे परिजन, स्त्री, बच्चे हमारा कहना मानें, अनुकूल आचरण करें और उस रास्ते पर चलें जिस पर हम चलाना चाहते हैं तो उनके

सामने वैसा ही आचरण भी प्रस्तुत करना पड़ेगा । ठीक है समझाना-बुझाना भी उचित और आवश्यक है, यदि तर्क, प्रमाण और उदाहरणों के साथ कोई बिना लाग-लपेट की बात सीधे ढंग से समझाई जाय तो उसका कुछ न कुछ प्रभाव भी पड़ता है और परिणाम भी निकलता है पर हृदय, स्वभाव, विचार और भाव परिवर्तन जैसी कोई बड़ी बात किसी से कराने के लिए सबसे कारगर उपाय यही है कि हम अपने आपको बदलें, सुधारें और अपने उत्कृष्ट व्यक्तित्व की छाप अपने अनुयायियों पर छोड़ें । जलते हुए दीपक से दूसरे दीपक जलाये जाते हैं । जो स्वयं ही बुझा पड़ा है वह दूसरों में प्रकाश कैसे उत्पन्न करेगा ?

परिवार में शांति और व्यवस्था तभी रह सकती है जब घर के लिए सज्जनता, स्नेह एवं सदाचरण से परिपूर्ण गतिविधियाँ अपनावें । आज हमारे चारों ओर जो दूषित वातावरण फैला हुआ है उसका प्रभाव दुर्बल मस्तिष्क के लोग आसानी से ग्रहण कर लेते हैं । अच्छाई की अपेक्षा बुराई अधिक आसानी से सीखी जा सकती है । वातावरण के संपर्क में हमारे घर वाले भी आते ही हैं, चारों ओर जो हो रहा है, उसे वे भी देखते-सुनते ही हैं अतएव वे भी उन बुराइयों को सीख लेते हैं जो छोटी होते हुए भी हमारी पारिवारिक व्यवस्था एवं सुख-शांति को नष्ट करने में चिनगारी जैसी सिद्ध हो सकती हैं । दुर्गुणों और दुर्भावों का सबसे बुरा प्रभाव परिवार पर पड़ता है क्योंकि अधिक समय तक, अधिक घनिष्टतापूर्वक परिवार के लोग ही साथ-साथ रहते हैं और अपने गुण-दोषों से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं । समाज में मनुष्य एक दूसरे से बहुत थोड़े समय तक मिलते हैं, वहाँ बनावट भी बरती जाती है इसलिए किसी प्रकार दुर्गुणी व्यक्ति भी अपना काम चला लेते हैं । पर परिवार में तो हर आदमी की आदतें नंगे रूप में प्रकट हो जाती हैं क्योंकि उसी क्षेत्र में तो उसे अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट करने के लिए विवश होना पड़ता है । किसी व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप उसके परिवार में रहकर ही देखा जा सकता है क्योंकि ढोंग बाहर तो चल जाता है पर घर में तो उसे अपना नग्न स्वरूप ही प्रकट करना होता है ।

दुर्गुणी परिजन, इतना ही दुःख देते हैं जितना शरीर में घुसा हुआ कोई

निरंतर पीड़ा देने वाला कष्टसाध्य रोग । दुर्गुणी स्वजनों को सद्‌गुणी बनाना उतना ही आवश्यक है जितना बीमार शरीर को निरोग बनाना । शरीर में घुसे हुए रोग की उपेक्षा करने और उसे पनपने देने में एक दिन मृत्यु संकट ही उपस्थित हो जाता है । उसी प्रकार परिजनों में घुसे हुए दुर्गुण उस छोटे से घर को नष्ट-भ्रष्ट और नारकीय अग्नि-कुंड जैसा दुःखदायक बना सकते हैं । इसलिए समय रहते उस स्थिति में परिवर्तन कर लेना चाहिए । आग छोटे रूप में जब लगी हो, तब प्रारंभिक दशा में उसे आसानी से बुझाया जा सकता है पर जब वह दावानल का प्रचंड रूप धारण कर ले तब उसे बुझा पाना संभव नहीं रहता । दुर्गुणों के समाधान के लिए प्रयत्न आरंभिक स्थिति में सफल हो सकते हैं, उनमें परिपक्वता आ जाने पर सुधार की गुंजायश बहुत ही कम रह जाती है ।

कोई व्यक्ति यदि सुखी रहने की आकांक्षा करता हो तो उसे अपने शरीर की तरह परिवार को भी निर्मल बनाना पड़ेगा और उसके लिए उसे पूरा ध्यान देना और प्रयत्न करना अपेक्षित होगा । यह कैसे हो ? यह सोचते समय हमें यह ध्यान रखना होगा कि उपदेश देने की प्रक्रिया एक बहुत छोटी सीमा तक ही कारगर होती है । इतने मात्र से यदि काम चल गया होता तो हर घर में कोई न कोई समझाने-बुझाने वाला रहता ही है और वह अपने बलबूते कुछ न कुछ सॉंवपटॉंव समझाता ही रहता है । तब फिर सुधार क्यों न हो गया होता ? फिर कोई घर क्यों अशांति का केन्द्र रहा होता ?

पाश्चात्य देशों में परिवार संस्था को ही नष्ट कर डालने का प्रयत्न चल रहा है । वे रोग के साथ रोगी को भी समाप्त कर रहे हैं । वहाँ वयस्क होते ही लड़कों को माता-पिता का आश्रय छोड़कर स्वावलंबी बनना पड़ता है और अपना अलग घर बसाना पड़ता है । इस प्रकार स्त्री और उसके छोटे बच्चों का ही परिवार रह जाता है । माँ-बाप बुड्ढे होने पर अपनी संचित कमाई पर गुजारा करते हैं या सरकार से वृद्धावस्था की सहायता लेकर 'वृद्ध-गृहों' में रह जिंदगी के दिन पूरे कर लेते हैं । फिर भी उनकी समस्या सुलझ नहीं पा रही है । दुर्गुणी पति-पत्नी एक दूसरे को दुख देते ही हैं और उन्हें पुराने को छोड़ने तथा नया साथी ढूँढ़ने की मृगतृष्णा में निरंतर भटकना पड़ता है । किशोर बालक

वहाँ भी माता-पिता के लिए सिर दर्द बने रहते हैं । वयस्क होकर स्वावलंबी हो जाने से पूर्व के दिन, जब तक कि बच्चे किशोर रहते हैं, माता-पिता को बुरी तरह कुढ़ाते रहते हैं । इस गुत्थी को योरोप वाले भी नहीं सुलझा पा रहे हैं फिर भारत में तो वह सुलझेगी भी कैसे ? जहाँ माता-पिता, छोटे बहिन-भाई, विधवाएँ, विधुर आर्थिक तथा अन्य कारणों से विवश होकर एक ही नाव में बैठकर जिंदगी पार करते हैं । हमारी आर्थिक मान्यताएँ, बच्चों का भविष्य, आर्थिक परिस्थितियाँ एवं उपार्जन की कठिनाई को देखते हुए परिवार को इस प्रकार तोड़-फोड़ डालना संभव नहीं हो सकता । ऐसी दशा में पश्चिमी देशों की अपेक्षा हमारे लिए यह और भी अधिक आवश्यक है कि परिवार की परिस्थितियाँ सुधारने का प्रयत्न किया जाय और यह कार्य आर्थिक सुधार से नहीं मानसिक स्तरों के स्वस्थ निर्माण से ही संभव है । घर के लोग सद्‌गुणी बनें तभी समस्या सुलझ सकती है ।

प्रत्येक सद्‌गृहस्थ की आकांक्षा रहती है कि उसका परिवार खुशहाल और प्रेमपूर्ण वातावरण में निर्वाह करे पर वह इसके लिए उन्हें सद्‌गुणी बनाने की आवश्यकता की ओर ध्यान नहीं देता । ऐसी दशा में वह आकांक्षा अतृप्त ही रह जाती है और निर्धन व्यक्ति जिस प्रकार मन मसोसते और अपने दुर्भाग्य को कोसते रहते हैं उसी तरह दुर्गुणी परिवार के संचालक को भी अपनी व्यथा को हर घड़ी सहन करते रहना पड़ता है । पर इतने से भी तो कुछ काम चलने वाला नहीं है । बढ़ती हुई बुराई जब विस्फोट की स्थिति में पहुँचती है तो सहनशक्ति का ह्रास भी हो जाता है और जीवन नरक के प्रत्यक्ष दर्शन करने को विवश होना पड़ता है ।

परिवार को सुधारने की इच्छा रखने वाले हर व्यक्ति को सबसे पहले अपने आप को सुधारना पड़ेगा क्योंकि असली प्रवचन वही है । माता और पिता पर बच्चों को जन्म देने का ही नहीं, उन्हें सुसंस्कारी बनाने और दीक्षा देने का उत्तरदायित्व भी है । पढ़ाई ठीक न होने का दोष शिक्षकों को दिया जा सकता है पर आदतें ठीक न होने का दोष विशुद्ध रूप से अभिभावकों को ही दिया जायगा, जिनने ढील छोड़कर बच्चों को बिगड़ जाने की स्थिति तक चला

जाने दिया । लाड़-प्यार में आरंभ के दिनों में माँ-बाप बच्चों पर बहुत खर्च करते हैं, बच्चा पैसे के मूल्य को समझ नहीं पाता और वह फिजूलखर्ची की आदत सीख जाता है अंततः वही आदत बढ़ी-चढ़ी स्थिति में पहुँच कर बच्चे को 'उड़ाऊ' बना देती है । माता-पिता यदि आरंभ से ही मितव्ययी रहें और धन को सदुपयोग से बरतें, सादगी अपनावें तो बच्चा भी धन की उपयोगिता एवं आवश्यकता को समझेगा और अपव्ययी न बन सकेगा । माता-पिता में परस्पर जो कलह, संघर्ष और मनोमालिन्य रहता है उसका प्रभाव बच्चों के कोमल हृदय पर पड़े बिना नहीं रह सकता । वे भी द्वेष, घृणा, कटुता और दुराव की भावनाएँ हृदयंगम कर लेते हैं और आगे चलकर यही दुर्गुण, क्लेश एवं द्वेष का विकराल रूप धारण करके सामने आते हैं । जिन माता या पिता के हृदय में अपने माँ-बाप के प्रति पति या पत्नी के प्रति, ईश्वर के प्रति, धर्म के प्रति श्रद्धा होगी उसके बालक भी अपने माता-पिता के प्रति, बड़े-बूढ़ों के प्रति श्रद्धावान् एवं भावनाशील रहेंगे ।

एक माता किसी सुयोग्य मनोवैज्ञानिक के पास गई और पूछा कि वह अपने चार वर्ष के बच्चे की शिक्षा कब से आरंभ करावे ? मनोवैज्ञानिक ने उत्तर दिया आप पाँच वर्ष लेट हो गईं । बालक के गर्भ में आते ही उसका शिक्षण अपने आप में आवश्यक हेर-फेर के साथ आरंभ कर लेना चाहिए । पाँच वर्ष की आयु तक तो बालक आधी पढ़ाई समाप्त कर लेता है । सूक्ष्म रूप से घर के सारे प्रभाव परमाणु बच्चे के अंतःकरण में प्रवेश कर जाते हैं, स्वभाव ढल जाता है । पाँच वर्ष के बाद तो उसे स्वभावजन्य नहीं, अक्षर ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करनी ही शेष रह जाती है ।

रज-वीर्य के संयोग से बालक का शरीर ही नहीं बनता वरन् दोनों के मन की मानसिक स्थिति के आधार पर बालक का मन भी बनता है । जो माता-पिता स्वयं दुर्गुणों एवं कुसंस्कारों से भरे पड़े हैं वे अपने बच्चों में क्यों कर सत्प्रवृत्तियाँ पनपती देख पावेंगे ? काम-वासना में अंधे होकर जिन्होंने बिना पूर्व तैयारी के, बिना अपने गुण, कर्म, स्वभाव में आवश्यक सुधार किये संतानोत्पादन किया है वस्तुतः उनने विष बीज ही बोया है । आमतौर से पहली

संतान मूर्ख और अंतिम संतान बुद्धिमान होती देखी जाती है उसका कारण माता-पिता का नव यौवन की स्थिति में अपरिपक्व मस्तिष्क एवं ढलती उम्र में बुद्धिमान होना ही एक मात्र कारण है । संतान का जन्म पृथ्वी पर पीछे होता है, उस पर वातावरण का प्रभाव जन्म लेने के बाद पड़ता है पर वास्तविक जन्म तो गर्भ में आने के दिन ही हो जाता है और उसकी शिक्षा-दीक्षा उसी दिन से आरंभ हो जाती है ।

अभिमन्यु को चक्रव्यूह भेधन की शिक्षा अर्जुन ने तब दी थी जब वह अपनी माता सुभद्रा के गर्भ में था । हर एक बालक अभिमन्यु की परिस्थिति में ही होता है, उसे जो कुछ सिखाया जाता है हम अर्जुन की तरह अपनी वाणी, क्रिया द्वारा उसे सिखा सकते हैं । रानी मदालसा ने अपने बच्चों को गर्भ में ही ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देकर ब्रह्मज्ञानी उत्पन्न किया था । जब उसके पति ने एक बालक राजकाज के उपयुक्त बनाने का अनुरोध किया तो मदालसा ने उन्हीं गुणों का एक तेजस्वी बालक उत्पन्न कर दिया । हर माता की स्थिति मदालसा की-सी होती है । यदि वह अपने गुण, कर्म, स्वभाव में आवश्यक सुधार कर ले तो वैसे ही गुणवान् बालक को जन्म दे सकती है जैसा कि वह चाहे । ऊसर खेत और सड़े बीज के संयोग से जैसे बेतुके अविकसित पौधे पैदा हो सकते हैं, वैसे ही बच्चे हमारे घरों में जन्मते हैं । गुलाब के फूल बढ़िया खेत में अच्छे माली के पुरुषार्थ से उगाये जाते हैं पर कटीली झाड़ियाँ चाहे जहाँ, चाहे जब उपज पड़ती हैं । अच्छी संतान सुसंस्कारी माता-पिता ही प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न कर सकते हैं । किंतु कुसंस्कारी बालक हर कोई फूहड़ स्त्री-पुरुष उगलते रह सकते हैं । अच्छी सद्गुणी संतान की आकांक्षा गुलाब की फसल उगाने की तरह है जिसके लिए माँ-बाप को काफी पहले अपने आपको संस्कारवान बनाने के लिए तत्पर होना पड़ता है । यदि यह कार्य हमें कठिन लगता हो तो संस्कारवान संतान की आकांक्षा भी छोड़ देनी चाहिए और जैसे भी उद्दंड, दुर्गुणी, कुसंस्कारी, दुर्मति बच्चे जन्में उन्हें अपनी करनी का फल मानकर संतोष कर लेना चाहिए ।

एक महात्मा इसके लिए प्रसिद्ध थे कि उनकी शिक्षाओं का दूसरों पर

बड़ा प्रभाव पड़ता था । वे जिससे जो कुछ कह देते थे वह वैसा ही करने लगता था । इस प्रशंसा को सुनकर एक महिला अपने बालक को लेकर यह उपदेश दिलाने महात्मा के पास पहुँची कि बच्चा अधिक शक्कर न खाया करे । डाक्टर मिठाई के लिए मना करते थे पर बालक मानता न था । महात्मा पहले तो कुछ गंभीर हुए पर पीछे महिला को दस दिन बाद आकर उपदेश देने के लिए कहकर उसे बिदा कर दिया । महिला दस दिन बाद फिर आई । महात्मा ने शक्कर न खाने का उपदेश दिया और बालक ने उसी दिन से उसे मानना शुरू कर दिया । पास बैठने वाले लोगों ने पूछा इतनी छोटी बात के लिए आपने दस दिन बाद आने के लिए उस महिला को क्यों कहा ? महात्मा जी ने बताया कि तब वह स्वयं शक्कर बड़ी रुचिपूर्वक खाते थे । इसलिए उन दिनों दिये गये उपदेश का कोई प्रभाव बालक पर नहीं पड़ सकता था । इन दस दिनों में मैंने स्वयं शक्कर त्यागी और उसके प्रति घृणा बुद्धि भी पैदा की । इतना सुधार अपने में कर लेने के बाद ही मेरे लिए यह संभव हो सका कि बच्चे को शक्कर छोड़ने का प्रभावशाली उपदेश दे सकूँ ।

बच्चों को आमतौर से उनके अभिभावक बहुत अच्छे उपदेश देते रहते हैं और उन्हें राम, भरत एवं श्रवण कुमार देखना चाहते हैं । पर कभी यह नहीं सोचते कि क्या हमने अपनी वाणी एवं आकांक्षा को अपने में आवश्यक सुधार करके इस योग्य बना लिया है कि उसका प्रभाव बच्चों पर पड़ सके ?

उत्तराधिकार में परिवार को पाँच रत्न दीजिए

धन, दौलत, खेती, जमीन-जायदाद, सोना, चाँदी, रुपया, व्यापार आदि अनेक माँ-बाप अपने बच्चों को उत्तराधिकार में देकर जाते हैं । इससे उनका कुछ काम भी चलता है पर व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से यह सभी चीजें अपर्याप्त हैं । निम्न श्रेणी का व्यक्तित्व होने पर आलस्य और प्रमाद से ग्रसित व्यक्ति उत्तराधिकार में प्राप्त हुई संपदाओं को भी सुरक्षित नहीं रख सकता । वह दुर्गुणों के कारण इन चीजों को बर्बाद कर देता है या उसे अज्ञानी और अव्यवस्थित पाकर लक्ष्मी स्वयं ही छोड़ कर चली जाती है । बड़े परिश्रम और

लगन के साथ संचय करके माँ-बाप अपने बच्चों के लिए कुछ इसलिए छोड़ते हैं कि हमारे पीछे भी बच्चे सुखपूर्वक रहेंगे, पर वे यह भूल जाते हैं कि सद्गुणों के अभाव में किसी की भी, कितनी भी संपत्ति देर तक नहीं ठहर सकती । यदि उनमें सद्गुणों का समुचित विकास नहीं हुआ है तो उत्तराधिकार की संपत्ति उन्हें लाभ पहुँचाना तो दूर उल्टे अनेक दुर्गुणों को बढ़ावा देने वाली सिद्ध होगी । गरीब बच्चे उतने नहीं बिगड़ते जितने अमीरों के । गरीब को रोज कमाना और रोज खाना पड़ता है । फालतू कामों के लिए उनके पास पैसा भी नहीं आता । इसलिए ये ऐय्याशी, विलासिता, व्यसन और बदमाशी के फेर में पड़ने से सहज ही बच जाते हैं । पर जिनके घर में सुविधा है उनमें दुर्गुणों को पनपने में भी सुविधा रहती है । वे दुःखदायक परिस्थितियों में आसानी से कुछ ही दिनों में फँस जाते हैं ।

अभिभावकों का कर्तव्य है कि अपने बच्चों के लालन-पालन का, खिलाने-पिलाने का, लाड़-चाव का, सुख-सुविधा का, पढ़ाई-लिखाई का, ब्याह-शादी का और आजीविका से लगाने का समुचित ध्यान रखें । पर इतने तक ही सीमित हो जाने से उनका कर्तव्य पूर्ण नहीं हो जाता । इन सब बातों से अधिक उत्तरदायित्व उन पर इस बात का है कि अपने बच्चों को सभ्य और सद्गुणी बना कर जावें । शारीरिक, बौद्धिक और आर्थिक विकास को महत्वपूर्ण माना जाता है सो ठीक है, पर यह न भूलना चाहिए कि यदि बालकों में अच्छी आदतों का, सत्प्रवृत्तियों का, सद्भावनाओं का समुचित विकास नहीं किया गया है तो वह बलवान, विद्वान्, धनवान कुछ भी क्यों न रहे मानसिक दृष्टि से सदा दुःखी ही रहेगा । सुख-सुविधा जुटा लेने से ही कोई व्यक्ति सुखी नहीं बन सकता है । साधनों के आधार पर सुविधा बढ़ सकती है पर शांति और संतोष तो अच्छी मनोवृत्तियों के ही प्रतिफल हैं । कुसंस्कारी व्यक्ति कभी भी सुखी नहीं रह सकते, जीवन में कभी उन्हें शांति नहीं मिल सकती । वैभव के कारण दूसरों में अपने सुखी होने का भ्रम पैदा किया जा सकता है पर वस्तुस्थिति सदा यही रहती है कि जिसका दृष्टिकोण ऊँचा है, सच्चा सुख केवल उन्हीं तक सीमित रहेगा ।

जो अभिभावक अपने बच्चों को सचमुच सुखी बनाना चाहते हों, उनके भविष्य को उज्ज्वल बनाना चाहते हों, उनके लिए उचित है कि सद्‌गुणों की दैवी संपदा अपनी संतति को अधिकाधिक मात्रा में देने का प्रयत्न करें । पर यह दे सकना उन्हीं के लिए संभव है जिनके पास स्वत: कुछ हो । धनी व्यक्ति ही अपने बच्चों के लिए धन छोड़ सकते हैं । सद्‌गुणी व्यक्ति ही उत्तराधिकार में अपनी संतति को निखरा हुआ व्यक्तित्व प्रदान कर सकते हैं । बच्चों को कुछ देने या छोड़ जाने की प्रसन्नता प्राप्त करने से पूर्व अभिभावकों को पहले कठोर श्रम करके स्वयं कमाई करनी पड़ती है तब उस संग्रह को किसी के लिए दे सकना संभव होता है । सद्‌गुणों की पूँजी पहले हमें अपने स्वभाव में संचित करनी पड़ेगी । उसके बिना बच्चों को अच्छा बनाने की बात सोचना व्यर्थ है । ढपोलशंख की कथा है कि वह कहता बहुत था और करता कुछ नहीं था । हम बालकों को सज्जन बनने की शिक्षा दें और स्वयं दुर्जन बनें तो अभीष्ट उद्देश्य किसी भी प्रकार पूरा न हो सकेगा । बच्चों को सुधारने से पूर्व हमें अपने आपको सुधारना होगा । बालकों की समझ अविकसित होती है, वे उपदेशों को अच्छी तरह समझ नहीं पाते । पर उनकी अनुकरण शक्ति प्रबल रहती है, जो कुछ देखते हैं, उसे आसानी से सीख लेते हैं, उसकी नकल तुरंत करने लगते हैं ।

१-श्रमशीलता की शिक्षा

यदि हम चाहते हैं कि हमारे बालक आलसी और अकर्मण्य न बनें तो हमें उनके सामने श्रमशीलता एवं कार्य संलग्नता का उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए और अपनी ही भांति उन्हें भी किसी न किसी उपयुक्त कार्यक्रम में लगे रहने की दिनचर्या बना देनी चाहिए । व्यवस्था ऐसी करनी चाहिए कि बालक खिन्न होकर नहीं वरन् मनोरंजन समझ कर बताये हुए कार्यों में लगा रहे । उसका मन न लगता हो तो किसी दूसरे प्रकार से हेर-फेर कर देना चाहिए । खेलना भी एक काम है, यदि वह नियत समय और उचित वातावरण में संपन्न किया जाय । खेलों में जहाँ मनोरंजन के लिए स्थान रहे वहाँ बुद्धि-विकास एवं सामाजिक प्रवृत्तियों की भी गुंजायश रहनी चाहिए । घर के कई उपयोगी कामों में बच्चों को लगाये रहने और साथ ही उनका मनोरंजन होते रहने की अपनी

परिस्थितियों के अनुरूप व्यवस्था कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति आसानी से बना सकता है । पुरस्कार और प्रशंसा के द्वारा भी बच्चों को उपयोगी कामों में लगे रहने की प्रेरणा दी जा सकती है । समय को व्यर्थ न जाने देना और उसे किसी न किसी उपयोगी कार्य में निरंतर लगाये रहने की आदत मानव-जीवन की सबसे बड़ी श्रेष्ठता एवं विशेषता है । जिसने अपने बच्चों को यह आदत सिखा दी उसने उनके लिए अपार संपत्ति उत्तराधिकार में छोड़ने की अपेक्षा कहीं अधिक उपकार किया है यह मानना चाहिए ।

२-उदारता : एक दिव्य गुण

उदारता दूसरा गुण है । बच्चे अपने भाई-बहिनों से अक्सर लड़ते-झगड़ते रहते हैं । खाने-पीने की वस्तुओं के लिए, खिलौनों के लिए या और किन्हीं वस्तुओं के लिए आपस में छीना-झपटी करते रहते हैं । इस आदत को जरा भी प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए वरन् उन्हें यह सिखाना चाहिए कि मिठाई आदि कोई स्वादिष्ट चीज पहले अपने दूसरे बहिन-भाईयों को बाँटें तब खुद खावें । जो बच्चा अधिक स्वार्थी हो उसी से यह बँटवारे का काम कराना चाहिए और उसे उचित बँटवारा करने पर, स्वयं सबसे पीछे और कम लेने की सज्जनता पर जी खोल कर बधाई देनी चाहिए तथा इस कार्य की उपयोगिता भी समझनी चाहिए । ईर्ष्यावश दूसरे बच्चों की चीजों को तोड़ने-फोड़ने या खराब करने की आदत किसी बच्चे में पढ़ने लगी हो तो उसे इसकी बुराई समझानी चाहिए और उपकार एवं स्नेह-बुद्धि जगा कर दूसरों की वस्तुओं को संभाल कर रखने एवं सहायता करने की प्रवृत्ति पैदा करनी चाहिए । एक-दूसरे के कटु व्यवहार को सहना, भिन्नता में भी समन्वय उत्पन्न करना, भूलने और क्षमा करने की नीति रखना, अपने कर्तव्य को स्मरण रखना और अधिकार को भूल जाना जहाँ भी स्वीकार किया जायेगा वहाँ की शांति और प्रेम-भावना को कोई भी कारण नष्ट न कर सकेगा । उदारता परिवार-शांति की सबसे बड़ी गारंटी है ।

३-सफाई और सादगी

सफाई तीसरा गुण है, जो बच्चों में आरंभ से ही उत्पन्न करना चाहिए । सफाई से प्रेम होने का अर्थ, मैल से घृणा । धोबी के धुले कपड़े चटपट पहन

लेना और पुराने कपड़े उतार कर फेंक देना सफाई नहीं है, यह तो सौंदर्य के प्रति आकर्षण मात्र है । शरीर के किसी अंग पर मैल जमा न होने देना, रगड़-रगड़ कर भली प्रकार स्नान करना, दाँत और जीभ ठीक तरह साफ करना, धुले कपड़े पहनना, अपने उपयोग की सभी चीजें ठीक रखना, यह सभी आदतें आवश्यक हैं । पर सबसे बड़ी बात यह है कि अपनी कोई वस्तु अव्यवस्थित पड़ी न रहने दी जाय । कपड़े, जूते, बर्तन, पुस्तकें, कलम आदि वस्तुओं को बच्चे जहाँ-तहाँ पटक कर दूसरे काम में लग जाते हैं । उन्हें सिखाया जाना चाहिए कि एक काम पूरा करके तब दूसरा आरंभ करना चाहिए और गंदगी से घृणा करनी चाहिए । गंदगी के उत्पन्न होते ही साफ करना चाहिए । हर वस्तु स्वच्छ और सलीके से रखनी चाहिए । गंदगी से घृणा न होना, उसे सहन करना, मानव स्वभाव का एक बहुत बड़ा दूषण है ।

तड़क-भड़क, शौकीनी, फैशनपरस्ती सफाई जैसी दीखते हुए भी उससे सर्वथा भिन्न है । सादगी ही सज्जनता की पोशाक है । जो लोग फैशन बना कर अपने आपको गुड्डे-गुड़ियों जैसा सजाते हैं वे मानसिक दृष्टि से ओछे ही कहे जा सकते हैं । शालीनता का प्रधान चिह्न सादगी ही माना गया है और सभी संभ्रांत व्यक्ति उसी को महत्व देते हैं । चीजों को व्यवस्थित एवं सुसज्जित रूप से रखने की आदत आरंभ में छोटी ही क्यों न लगती हो आगे चलकर व्यक्ति को एक सुयोग्य व्यवस्थापक एवं सुरुचिसंपन्न व्यक्ति बना देती है । इसलिए बच्चों को बार-बार टोकते रहकर, उन्हें बराबर समझाते रहकर संभालने और साफ रखने की आदत का अभ्यासी बनाना चाहिए । एक काम को पूरा करके दूसरे को हाथ लगाया जाय । यह आदत धैर्य और व्यवस्था का पूर्ण रूप है । कपड़े, पुस्तकें, बर्तन, जूते आदि यथास्थान रखे बिना वे आगे का काम न करें, यह आदत डाली जा सके तो एक काम अधूरा छोड़कर दूसरे में लगने की, दूसरा छोड़कर तीसरे में संलग्न हो जाने की बालबुद्धि से बचा जा सकता है और बच्चा आगे चलकर इस आदत के कारण ही जीवन के हर क्षेत्र में सफलता का मार्ग प्रशस्त कर सकता है । पूरा मन लगा कर जो भी काम किया जायगा उसमें जादू जैसी

विशेषता होती है और हमारे अधूरे मन से किये हुए काम आमतौर से फूहड़पन लिए होते हैं ।

४-समय का सदुपयोग

समय का पालन, नियत दिनचर्या के आधार पर यथा समय अपने सब काम करने की आदतें मानव-जीवन के सदुपयोग का महत्वपूर्ण गुण हैं । अधिकांश व्यक्ति समय का मूल्य नहीं समझते । ईश्वर ने संपत्ति के रूप में मानव-प्राणी को यही सबसे बड़ी, सबसे मूल्यवान वस्तु दी है । वह जो कुछ भी विभूति चाहे अपने समय का पूरा उपयोग करके उससे प्राप्त कर सकता है । समय के सदुपयोग का नाम ही पुरुषार्थ है । नियमित रूप से व्यवस्थित गति से चलती रहने वाली चींटी भी योजनों लंबी मंजिल पार कर लेती है, पर निठल्ला बैठने वाला गरुड़ भी जहाँ का तहाँ रहता है । फुरसत न मिलने की शिकायत तो हर आदमी करता है और अपने को कार्य-व्यस्त भी मानता है पर सच बात यह है कि कोई बिरला ही अपने आधे समय का भी ठीक उपयोग कर पाता है । धीरे-धीरे अधूरे, अव्यवस्थित प्रकार से, आवश्यकता से अधिक समय मामूली बातों में लगाकर अनुपयोगी कामों में लगे रहकर आमतौर से लोग अपनी आधी जिंदगी नष्ट कर लेते हैं । लिखित दिनचर्या बनाये बिना यह पता ही नहीं लगता कि आवश्यक और अनावश्यक कार्य कौन-कौन से हैं और कब कौन-सा कार्य, कितने समय में करना है । इसलिए बच्चों को समय का महत्व समझाना चाहिए, व्यस्तता का महत्व बताना चाहिए और समय की बर्बादी की हानि से उन्हें परिचित रखना चाहिए । जल्दी सोना और जल्दी उठना किसी भी प्रगतिशील जीवन में रुचि रखने वाले के लिए नितांत आवश्यक है । जिसके समाने कोई अनिवार्य कारण न हों उन्हें सूर्य अस्त होने के तीन घंटे के बाद तक अवश्य सो जाना चाहिए और प्रातःकाल सूर्य उदय होने से दो घंटे पहले उठ बैठना चाहिए । यह सोने और उठने की आदत जिनने ठीक कर ली वे बच्चे निश्चित रूप से पढ़ाई में अच्छे नंबरों से उत्तीर्ण होते रहेंगे । इस आदत के कारण प्रतिदिन कई महत्त्वपूर्ण घंटे अधिक कार्य करने के लिए मिल जाते हैं और उसको जिस भी कार्य में लगाया जाय उसी में

मनुष्य आशाजनक उन्नति कर सकता है । जिसने अपने समय का मूल्य समझ लिया और उसके सदुपयोग की ठान ठान ली, समझना चाहिए कि उसने अपने जीवन को सफल बनाने की आधी मंजिल पार कर ली ।

५-शिष्टाचार और सज्जनता

पाँचवाँ गुण जो बच्चों को सिखाया जाना चाहिए वह है-नम्रता । सज्जनता, शिष्टाचार, मधुर भाषण, भलमनसाहत-यही तो वह विशेषताऐं हैं जिनसे आकर्षित होकर दूसरे लोग अपने ऊपर अनुकंपा करते, प्रशंसक बनते और समीपता में प्रसन्नता अनुभव करते हैं । पराये को अपना बनाने का गुण केवल मात्र सज्जनता के व्यवहार में ही सन्निहित है । अनुदार, रूखे, कर्कश, अशिष्ट, कटुभाषी व्यक्ति अपनों को भी पराया बना देते हैं और मित्रों से शत्रुता उत्पन्न कर लेते हैं । उसके विपरीत जिनकी वाणी में प्रेरणा घुली रहती है, आदर के साथ बोलते हैं और नम्रता और सज्जनता का परिचय देते हैं, उनके शत्रु भी देर तक शत्रु नहीं रह सकते, उन्हें प्रतिकूलता छोड़कर अनुकूल बनने के लिए विवश होना पड़ता है ।

परिवार के विद्यालय में सज्जनता एवं मधुरता का अभ्यास छोटी आयु से ही बालकों को कराया जाना चाहिए । बड़े-छोटों के साथ आप या तुम कहते हुए सम्मान-सूचक शब्दों में ही बात करें । प्रताड़ना एवं भर्त्सना भरी बात भी कोई गलती करने पर कही जा सकती है पर वह होनी नम्र और शिष्ट शब्दों में ही चाहिए । गाली-गलौज़ भरे, मर्मभेदी, व्यंग्यात्मक, तिरस्कारपूर्ण कटु शब्द हर किसी को बुरे लगते हैं । छोटों पर भी उसका बुरा प्रभाव पड़ता है । जिह्वा पर इतना काबू होना चाहिए कि वह आवेश भरे दुष्ट शब्दों को बोलने न पाये । दुष्ट शब्दों की प्रतिक्रिया दुष्टतापूर्ण ही होती है, उससे केवल द्वेष बढ़ता है । कभी इन्कार का अवसर आवे तो उसमें भी अपनी असमर्थता नम्र शब्दों में प्रकट करनी चाहिए । कटु शब्दों में इन्कार करने से सामने वाले पर दुहरा प्रहार होता है और वह भी तिलमिला कर दुहरी दुष्टता धारण कर लेता है । विवाद, इन्कारी एवं प्रतिद्वन्द्विता में भी शिष्ट भाषा और सामने वाले के सम्मान का ध्यान रखा जाना चाहिए ।

चरणस्पर्शपूर्वक अभिवंदन

घर का प्रत्येक व्यक्ति अपने बड़ों का विशेषतया माता-पिता एवं वयोवृद्धों का नित्य चरण-स्पर्श के साथ अभिवादन किया करे । यह परंपरा हमारे हर घर में आरंभ की जानी चाहिए । इसका प्रभाव परिवार के स्नेह-संबंधों पर बहुत अधिक पड़ता है । कोई कटुता उत्पन्न होती है तो इस प्रक्रिया के द्वारा उसका बहुत कुछ समाधान नित्य ही होता रहता है । छोटे बच्चे अपने बड़े भाई-बहिनों को तथा बुजुर्गों को प्रातःकाल उठते ही प्रणाम किया करें । बड़े अपने बड़ों को प्रणाम करें और सबसे बड़े अपने स्वर्गीय पूर्वजों के चित्र अथवा चरण-प्रतीक का अभिवंदन किया करें । स्वर्गीय पूर्वजों के चित्र अथवा चरण प्रतीक हर घर में रहने चाहिए और उनके अभिवंदन की धर्म-प्रक्रिया परिवार के प्रत्येक सदस्य को नित्यकर्म की तरह पूर्ण करनी चाहिए । बहुएँ अपने पति के, सास-ससुर के, बड़ी ननद के, जेठ-जिठानी के तथा घर में जो और वयोवृद्ध हों उनका चरणस्पर्श अभिवंदन किया करें । सज्जनता, नम्रता और धार्मिकता की यह पुनीत परिपाटी जिन घरों में चल पड़ेगी वहाँ पारिवारिक-कलह का एक बहुत बड़ा भाग स्वयमेव समाप्त हो जायगा । आरंभ में संकोचवश, इस नई प्रथा को अपनाने में घर के सदस्य आना-कानी कर सकते हैं, पर यदि साहसपूर्वक एक-दो व्यक्ति भी इसे अपना लें तो कुछ दिन में और सब लोग भी इस श्रेष्ठ परंपरा को अवश्य अपना लेंगे ।

परिवार के सत्‌शिक्षण के लिए यह अत्यन्त सरल कार्यक्रम है, पर इसकी महत्ता अत्यधिक है-(१) श्रमशीलता, (२) उदारता, (३) सफाई, (४) समय का सदुपयोग, (५) शिष्टाचार के पाँच नियम जिस परिवार में जड़ जमा लेंगे वहाँ स्वर्ग के लक्षण कुछ ही दिन में प्रत्यक्ष दिखाई देने लगेंगे । यह पाँचों गुण छोटों को सिखाने से पूर्व बड़ों को पहले अपने में उत्पन्न करने चाहिए और वाणी से ही नहीं, क्रिया से भी छोटों को इनकी शिक्षा देनी चाहिए । यों सद्‌गुण अनेक हैं पर इन पाँच की महत्ता सर्वोपरि है । गृहपति का तथा परिवार के प्रत्येक उत्तरदायी व्यक्ति का कर्तव्य है कि इन्हें अपने स्वभाव

का अंग बनावें । यह गुण जितने-जितने अंशों में बढ़ेंगे, परिवार में पारस्परिक संबंध मधुर होने के साथ-साथ आर्थिक तथा अन्य प्रकार की प्रगति के साधन जुटने लगेंगे । जिन्हें अपना परिवार देव-परिवार के रूप में देखने की इच्छा हो वे इन पाँच गुणों का प्रवेश परिजनों में कराते रहने के लिए कटिबद्ध हों और देखें कि उनका वृहत् परिवार-शरीर कितना स्वस्थ, समर्थ एवं सुविकसित बनता चला जाता है ।

परिवार का मूल दाम्पत्य-जीवन

दाम्पत्य जीवन के ऊपर पारिवारिक, सामाजिक, व्यक्तिगत सभी तरह की उन्नति, विकास निर्भर करते हैं । पति-पत्नी के सहयोग, एकता परस्पर आत्मोत्सर्ग, त्याग, सेवा आदि से दाम्पत्य जीवन की सुखद और स्वर्गीय अनुभूति सहज ही की जा सकती है । इससे मनुष्य के आंतरिक और बाह्य जीवन के विकास में बड़ा योग मिलता है । सभी भांति स्वस्थ, संतुलित सुंदर दाम्पत्य जीवन स्वर्ग की सीढ़ी है और मानव विकास का प्रेरणा-स्रोत है ।

जीवन लक्ष्य की लंबी मंजिल को तय करने के लिए पति-पत्नी का अनन्य संयोग यात्रा को सहज और सुगम बना देता है । नारी शक्ति है तो पुरुष पौरुष । बिना पौरुष के शक्ति व्यर्थ ही धरी रह जाती है तो बिना शक्ति के पौरुष भी किसी काम नहीं आता, वह अपंग है । शक्ति और पौरुष का समान प्रवाह, संयोग एकता, नव-सृजन के लिए-नव-निर्माण के लिए आवश्यक है । इनकी परस्पर असंगति, असमानता ही अवरोध, हानि, अवनति का कारण बन जाती है । पति-पत्नी में यदि परस्पर विग्रह आपा-धापी, स्वार्थपरता, द्वेष, स्वेच्छाचार की आग सुलग जायगी तो दाम्पत्य जीवन का सौंदर्य विकास, प्रगति, महत्वपूर्ण संभावनाओं का स्वरूप अपने गर्भ में ही नष्ट हो जायगा ।

पति-पत्नी संसार पथ पर चलने वाले जीवन रथ के दो पहिए हैं, जिनमें एक की स्थिति पर दोनों की गति, प्रगति निर्भर करती है । दोनों का चुनाव

जितना ठीक होगा दाम्पत्य जीवन उतना ही सुखद, स्वर्गीय, उन्नत एवं प्रगतिशील बनेगा । दोनों में से एक भी अयोग्य, कमजोर हो तो दाम्पत्य जीवन का रथ डगमगाने लगेगा और पता नहीं वह कहीं भी दुर्घटनाग्रस्त होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा अथवा मार्ग में ही अटक जायगा । इससे न केवल पति-पत्नी वरन् परिवार समाज के जीवन में गतिरोध पैदा होगा । क्योंकि दाम्पत्य जीवन पर ही परिवार का भवन खड़ा होता है और परिवारों से ही समाज बनता है । इसलिए पति-पत्नी का चुनाव एक महत्वपूर्ण पहलू है ।

बड़ी-बड़ी आशा, आकांक्षाओं के साथ नवयुवक और नवयुवतियाँ दाम्पत्य-जीवन के सूत्र में बँधते हैं । बड़ी-बड़ी रस्में अदा होती हैं । विवाह के रूप में बड़ा समारोह मनाया जाता है । गाजे-बाजे, रोशनी, दावतें, लेन-देन, बरात, जुलूस आदि के साथ दो प्राणी विवाह-सूत्र में बँधते हैं । परस्पर के नये आकर्षण से प्रारंभिक दिनों दोनों का जीवन बड़ा सुखद बीतता है किंतु यह स्थिति अधिक दिन नहीं रहती और दाम्पत्य-जीवन कलह, अशांति, द्वेष, असंतोष की आग में जलने लगता है ।

परिपाटी के तौर पर जो प्रतिज्ञायें धर्म पुरोहित उच्चारण कर देते हैं उनका व्यवहारिक जीवन में नाम भी नहीं रहता । दाम्पत्य-जीवन एक दूसरे के लिए बोझा बन जाता है । इसका कोई बाह्य कारण नहीं । अपितु पति-पत्नी दोनों के ही परस्पर व्यवहार, आचरणों में विकृति पैदा होने पर ही अक्सर ऐसा होता है । यदि इन छोटी-छोटी बातों में सुधार कर लिया जाय तो दाम्पत्य-जीवन परस्पर सुख, शांति, आनंद का केन्द्र बन जाय ।

दाम्पत्य जीवन की सुख, समृद्धि एवं शांति के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि व्यवहार में एक दूसरे की भावनाओं का ध्यान रक्खें । एक मोटा-सा सिद्धांत है कि मनुष्य दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करे जैसा वह स्वयं के लिए चाहता है । पति-पत्नी भी सदैव एक दूसरे की भावनाओं, विश्वासों का ध्यान रखें । किंतु देखा जाता है कि अधिकांश लोग अपनी भावना, विचारों में इतना खो जाते हैं कि दूसरे के विचारों, भावों का कुछ भी ध्यान नहीं रखा जाता । वे उन्हें निर्ममता के साथ कुचल भी देते हैं । इस तरह

दोनों की एकता, सहयोग के स्थान पर असंतोष का उदय हो जाता है । अपनी इच्छानुसार पत्नी को जबरदस्ती किसी काम के लिए मजबूर करना, उसकी इच्छा न होते हुए भी दबाव डालना पति के प्रति पत्नी के मन में असंतोष की आग पैदा करना है । इसी तरह कई स्त्रियाँ अपने पति के स्वभाव, रुचि, आदेशों का ध्यान न रखकर अपनी छोटी-छोटी बातों में ही उन्हें उलझाये रखना चाहती हैं । फलतः उन लोगों को विवाह एक बोझा-सा लगने लगता है । दाम्पत्य जीवन के प्रति उन्हें घृणा, असंतोष होने लगता है और यही असंतोष उनके परस्पर के व्यवहार में प्रकट होकर दाम्पत्य जीवन को विषाक्त बना देता है । यदि किसी की मानसिक स्थिति ठीक न हो तो परस्पर लड़ाई-झगड़े होने लगते हैं । एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप करते रहते हैं ।

पति-पत्नी का सदैव एक दूसरे के भावों, विचारों एवं स्वतंत्र अस्तित्व का ध्यान रखकर व्यवहार करना, दाम्पत्य जीवन की सफलता के लिए आवश्यक है । इसी के अभाव में आजकल दाम्पत्य जीवन एक अशांति का केन्द्र बन गया है । पति की इच्छा न होते हुए, साथ ही आर्थिक स्थिति भी उपयुक्त न होने पर स्त्रियों की बड़े-बड़े मूल्य की साड़ियाँ, सौंदर्य प्रसाधन, सिनेमा आदि की माँग पतियों के लिए असंतोष का कारण बन जाती है । इसी तरह पति का स्वेच्छाचार भी दाम्पत्य जीवन की अशांति के लिए कम जिम्मेदार नहीं है । यही कारण है कि कोई घर ऐसा नहीं दीखता जहाँ स्त्री-पुरुषों में आपस में नाराजगी असंतोष दिखाई न देता हो ।

परस्पर एक दूसरे की भावनाओं और स्वतंत्रता का ध्यान न रखने में एक मुख्य कारण अशिक्षा भी है । यह कमी अधिकतर स्त्रियों में पाई जाती है । पर्याप्त शिक्षा-दीक्षा के अभाव के कारण भी मानसिक विकास नहीं होता, जिसके कारण एक दूसरे की भावनाओं, व्यवहारिक जीवन की बातों के बारे में मनुष्य को जानकारी नहीं मिलती । इसके निवारण के लिए प्रत्येक पुरुष को कुछ न कुछ समय निकाल पत्नी को पढ़ाने, उसका ज्ञान बढ़ाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए । जीवन-साथी का समकक्ष होना आवश्यक है । अपने साथी की ज्ञानवृद्धि, विकास एवं कल्याण के लिए भी अन्य आवश्यक कार्यों की

तरह ही प्रयत्न करना आवश्यक है, तभी वह जीवन में सहयोग, एकता, सामंजस्य का आधार बन सकती है । किंतु देखा जाता है अधिकांश लोग इसमें दिलचस्पी नहीं लेते । मन, बुद्धि के विकास के अभाव में दाम्पत्य-जीवन सुखी और समृद्ध नहीं बन सकता ।

योग्य होकर भी, एक दूसरे की भावनाओं का ध्यान रखते हुए भी कभी-कभी स्वभावतः ऐसा व्यवहार हो जाता है जो पति-पत्नी में से एक-दूसरे को अखरने लगता है । ऐसी स्थिति में किसी भी एक पक्ष को क्षमाशीलता, सहिष्णुता का परिचय देकर विक्षोभ उत्पन्न न होने देने का प्रयत्न करना आवश्यक है । साथ ही दूसरे पक्ष को भी अपनी भूल को महसूस कर क्षमा माँग कर परस्पर मनों को साफ करना चाहिए, अन्यथा परस्पर मनोमालिन्य बढ़ जाता है और दाम्पत्य-जीवन में कटुता पैदा हो जाती है । महात्मा सुकरात, टालस्टाय, संत तुकाराम जैसे महापुरुषों ने अपनी फूहड़ और लड़ाका स्त्रियों को सहनशीलता, क्षमा, उदारता के साथ जीवन में निबाहा था ।

स्त्रियाँ तो बेचारी सदा से ही अपने पतियों के कटु स्वभाव, व्यवहार, निर्दयता, स्वेच्छाचार को भी सहन करके दाम्पत्य-जीवन की गाड़ी को चलाने में योग देती रही हैं । भारतीय नारी का महान् आदर्श इसी त्याग, सहिष्णुता और पतिव्रत-धर्म से निर्मित रहा है । पति-पत्नी में से जब किसी एक में भी कोई स्वाभाविक कमजोरी दीखती हो तो उसका सहनशीलता के द्वारा निराकरण करके गृहस्थ की गाड़ी को चलाने में पूरा-पूरा प्रयत्न करते रहना आवश्यक है ।

पति-पत्नी दोनों का जीवन एक सिक्के के दो पहलू हैं । दोनों में अभिन्नता है, एक्य है । भारतीय संस्कृति में तो पुरुष और स्त्री को आधा-आधा अंग मानकर एक शरीर की व्याख्या की गई है, जिसमें पुरुष को अर्द्धनारीश्वर तथा स्त्री को अर्द्धांगिनी कहा गया है । दाम्पत्य जीवन स्त्री-पुरुष की अनन्यता का गठबंधन है । अतः परस्पर किसी तरह का दुराव, छिपाव, दिखावा, बनावटी व्यवहार करना, परस्पर अविश्वास एक दूसरे के प्रति घृणा को जन्म

देता है और इसी से दाम्पत्य-जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं । अपनी प्रत्येक चेष्टा में स्पष्टता, दुराव-छिपाव का अभाव रख कर अभिन्नता प्रकट करते हुए पति-पत्नी को एक दूसरे का विश्वास, मानसिक एकता प्राप्त करना चाहिए । वैसे जहाँ तक बने प्रत्येक व्यक्ति को अपने बाह्य जीवन में भी रहस्य, छल, बनाव, दिखावे से बचना चाहिए । क्योंकि इस बाहरी व्यवहार को देखकर भी पति-पत्नी एक दूसरे पर संदेह करने लगते हैं । वे सोचते हैं-"हो सकता है यही व्यवहार हमसे किया जा रहा हो ।" और संदेह की भूल-भुलैया में ही अनेकों दम्पत्तियों का जीवन क्लिष्ट, उलझा हुआ, दुरूह बन जाता है ।

पति-पत्नी दोनों अपने मानसिक क्षेत्र में बहुत बड़ा कुटुम्ब होते हैं । अपनी मानसिक आवश्यकताओं के आधार पर पति या पत्नी से ही विभिन्न समय में, सलाहकार की तरह मंत्री की-सी योग्यता, भोजन करते समय माँ की वात्सल्यता, आत्म-सेवा के लिए आज्ञापालक नौकर, जीवन-पथ में एक अभिन्न मित्र, गृहिणी, रमणी आदि की आकांक्षा रखता है । इसी तरह पत्नी भी पति से जीवन-निर्वाह के क्षेत्र में माँ-बाप, दु:ख-दर्द में अभिन्न साथी, कल्याण और उन्नति के लिए सद्गुरु, कामनाओं की तृप्ति के लिए भर्तार, सुरक्षा-संरक्षण के लिए भाई आदि के कर्तव्यपूर्ति की आशा रखती है । जब परस्पर इन मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती है तो एक दूसरे में असंतोष, अशांति पैदा हो जाती है ।

एक दूसरे की भावनाओं का ध्यान रखते हुए, एक दूसरे की योग्यता-वृद्धि, खासकर पुरुषों द्वारा स्त्रियों के ज्ञानवर्द्धन में योग देकर परस्पर क्षमाशीलता, उदारता, सहिष्णुता, अभिन्नता, एक दूसरे की मानसिक तृप्ति करते हुए दाम्पत्य जीवन को सुखी, समृद्ध बनाया जा सकता है । अधिकतर इसके लिए पुरुषों को ही अधिक प्रयत्न करना आवश्यक है । वे अपने प्रयत्न और व्यवहार से गृहस्थ-जीवन की काया पलट कर सकते हैं । अपने सुधार के साथ ही स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा, ज्ञानवृद्धि, उनके कल्याण के लिए हार्दिक प्रयत्न करके दाम्पत्य-जीवन को सफल बनाया जा सकता है । धैर्य और विवेक के साथ एक दूसरे को समझते हुए अपने स्वभाव, व्यवहार

में परिवर्तन करके ही दाम्पत्य-जीवन को सुख-शांतिपूर्ण बनाया जा सकता है ।

पति-पत्नी की परस्पर आलोचना दाम्पत्य-जीवन के मधुर संबंधों में खटाई पैदा कर देती है । इससे एक दूसरे की आत्मीयता, प्रेम, स्नेहमय आकर्षण समाप्त हो जाता है । कई व्यक्ति अपनी स्त्री की बात-बात पर आलोचना करते हैं । उनके भोजन बनाने, रहन-सहन, वस्त्र, ओढ़ने-पहनने, बोलचाल आदि तक में नुक्ताचीनी करते हैं । इससे स्त्रियों पर दूषित प्रभाव पड़ता है । पति की उपस्थिति उन्हें बोझा-सी लगती है और वे उनकी उपेक्षा तक करने लग जाती हैं ।

स्त्रियाँ सदैव यह चाहती हैं कि पति उनके काम, रहन-सहन आदि की प्रशंसा करें । वस्तुत: पति के मुँह से निकला हुआ प्रशंसा का एक शब्द पत्नी को वह प्रसन्नता प्रदान करता है जो किसी बाह्य साधन, वस्तु से उपलब्ध नहीं हो सकती । पति की प्रशंसा पाकर स्त्री अपनत्व तक भी भूल जाती है । दाम्पत्य-जीवन में जो परस्पर प्रशंसा करते नहीं अघाते वे सुखी, संतुष्ट और प्रसन्न रहते हैं ।

जिन स्त्रियों को पतियों की कटु आलोचना सुननी पड़ती है वे सदैव यह चाहती हैं कि कब यह यहाँ से हटें और पति की अनुपस्थिति में वह अन्य माध्यमों से अपने दबे हुए भावों की तृप्ति करती हैं । सखियों के साथ गप-शप लड़ाती हैं । तरह-तरह के बनाव, शृंगार करके बाजार में निकलती हैं और यहाँ तक कि कई तो पर-पुरुषों की प्रशंसापात्र बनकर अपने भावों को तृप्त करने का भी प्रयत्न करती हैं । जो प्रेम और प्रशंसा उसे पति से मिलने चाहिए थे वह उन्हें अन्यत्र ढूँढ़ने का प्रयत्न करती है । कई स्त्रियाँ अन्य मानसिक रोगों से ग्रस्त हो जाती हैं अथवा क्रोधी, चिड़चिड़े स्वभाव की झगड़ालू बन जाती हैं । घर उन्हें सूना-सूना और उजड़ा हुआ-सा लगता है । जहाँ स्त्री को पति की प्रेमयुक्त प्रशंसा के स्थान पर कटु आलोचनाएं सुननी पड़ती हैं, वहाँ सहज प्रेम तो धीरे-धीरे समाप्त हो ही जाता है । पतिगृह में नारी के लिए जो आकर्षण, प्रसन्नता और उल्लास का वातावरण होना चाहिए वह निराशा, खिन्नता, रुखाई और

श्मशानवत नीरवता में बदल जाता है, जहाँ सद्भावना, प्रेम, आत्मीयता के जीवन से रहित पति-पत्नी के जड़ शरीर हिलते-डुलते नजर आते हैं ।

इसी तरह स्त्रियों द्वारा पति की उपेक्षा, आलोचना करना भी इतना ही विषैला है । पुरुषों को अपने काम से थक कर आने पर घर में प्रेम एवं उल्लास का उमड़ता हुआ समुद्र लहराता मिलना चाहिए, जिसमें उनकी दिनभर की थकान, क्लांति, परेशानी धुल जाय । इसके स्थान पर यदि पत्नी की कटु आलोचना, व्यंग्य-वाण, बच्चों की धर-पटक, हाय-हल्ले का सामना करना पड़े तो उस व्यक्ति की क्या हालत होगी, भुक्त भोगी इसका सहज ही अनुमान लगा सकते हैं ।

अच्छे-अच्छों का धैर्य उस समय डिग जाता है जब पत्नी के कटु-कर्कश व्यवहार का सामना पुरुष को लगातार करना पड़ता है । फ्रांस का सम्राट नेपोलियन तृतीय अपनी पत्नी की आलोचना और रुखाई से तंग आकर वेश्याओं के यहाँ जाने लगा था । उसने अंत में एक स्त्री से भी अपना संबंध बना लिया था । लिंकन जैसा महापुरुष अपने अच्छे स्वभाव और सद्गुणों के बल पर दाम्पत्य-जीवन को काफी समय तक निभाता रहा किंतु अंत में उसे अलग होना पड़ा । महान् विचारक टालस्टाय अपनी स्त्री के कर्कश स्वभाव को सहते रहे किंतु अंत में बयासी वर्ष की उम्र में परेशान होकर घर छोड़कर चले गये और मार्ग में ही निमोनिया के प्रभाव से उनकी मृत्यु हो गई ।

इस तरह के अनेकों उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है । पत्नी की कर्कशता से तंग आकर व्यक्ति यदि आदर्शवादी होता है तो वह दार्शनिक विचार तथा क्रियाओं की ओर मुड़ जाता है-जैसे सुकरात, भर्तृहरि आदि । इसके विपरीत साधारण मानसिक शक्ति और सामान्य बुद्धि वाला हुआ तो वह वेश्यागामी, शराबी, व्यसनी बन जाता है । जिन लोगों को घर में स्त्रियों का प्रेम, सद्भाव नहीं मिलता वे अन्यत्र उस प्रेम की पूर्ति करना चाहते हैं अथवा नशेबाजी आदि व्यसनों में अपनी परेशानी भुलाना चाहते हैं । घर के कटुतापूर्ण, रुक्ष, आलोचनाप्रधान वातावरण के कारण कितने ही लोगों का जीवन अपराधी बन जाता है ।

पति-पत्नी का एक समान संबंध है, जिसमें न कोई छोटा, न कोई बड़ा है। जीवन-यात्रा के पथ पर पति-पत्नी परस्पर अभिन्न-हृदय साथियों की तरह होते हैं। दोनों का अपने-अपने स्थान पर समान महत्व है। पुरुष जीवन-क्षेत्र में पुरुषार्थ और श्रम के सहारे प्रगति का हल चलाता है तो नारी उसमें नव-जीवन, नव-चेतना, नव-सृजन के बीज वपन करती है। पुरुष जीवन-रथ का सारथी है तो नारी रथ की धुरी। पुरुष जीवन-रथ में जूझता है तो नारी उसकी रसद व्यवस्था और साधन-सुविधाओं की सुरक्षा रखती है। किंतु अज्ञान और अभिमानवश पुरुष नारी के इस सम्मान का पालन नहीं करता। दाम्पत्य-जीवन में विषवृद्धि का एक कारण परस्पर असम्मान और आदर-भावनाओं का अभाव भी है।

पतिव्रत धर्म की गरिमा

शास्त्रों में पतिव्रत धर्म की महिमा का मुक्त कंठ से वर्णन किया गया है और बताया गया है कि पतिपरायण नारी वह सद्गति सहज में प्राप्त कर लेती है जो योगी-यती एवं ज्ञानी-ध्यानी बड़ी कठिनाइयाँ सहते हुए प्राप्त करते हैं। पतिव्रता नारियों के गौरवमय चरित्रों से भारतीय इतिहास का पन्ना-पन्ना भरा पड़ा है।

अंधे पति से अपनी स्थिति अच्छी रहने देने की अनिच्छुक धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी ने आँखों में आजीवन पट्टी बाँधे रहने का व्रत लिया और उसे सदैव निभाया। शैव्या ने हरिश्चंद्र के साथ, दमयंती ने नल के साथ, सीता ने राम के साथ कठिन समय आने पर अपने त्याग और प्रेम का अद्भुत परिचय दिया। सत्यवती ने सत्यवान के साथ, सुकन्या ने वृद्ध च्यवन के साथ कितना उत्कृष्ट संबंध निबाहा? अरुधंती, अनुसूइया, बेहुला, शकुंतला, भारती आदि कितनी ही नारियों के ऐसे दिव्य चरित्र मिलते हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि पतिपरायणता को इस देश का नारी समाज अत्यंत उच्च भावनाओं के साथ निबाहता रहा है।

पतियों के साथ परलोक में भी रहने की भावना से प्रेरित होकर उनके

मृत शरीरों के साथ जलकर कितनी ही नारियाँ इस बात का परिचय देती रही हैं कि उनने आदर्श के लिए चिता में जीवित जलने का मर्मांतक कष्ट सहकर भी भावनाओं को ऊँचा उठाये रहना उचित समझा । पतियों की शान पर रत्ती भर भी आँच न आने देने और पतिव्रत धर्म की रक्षा के लिए चित्तौड़ की रानियों ने जो अपूर्व बलिदान का परिचय दिया उसकी महिमा किन शब्दों में कही जाय ? अभी भी स्थान-स्थान पर सतियों के मंदिर और स्मारक जहाँ-तहाँ देखने को मिलते हैं, इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में भारतीय नारी ने अपने आदर्शवाद की कितने कष्ट सहकर भी रक्षा की है ।

पतिव्रत धर्म को एक योग साधन माना गया है । उसका अवलंबन करने से नारी को आध्यात्मिक उत्कर्ष, श्रेष्ठ सद्गति का प्राप्त होना स्वाभाविक है । आत्म समर्पण एक उच्च स्तरीय साधना है । भगवान को भक्त जब अपना समर्पण करता है तो वह अपने 'अहम्' को समाप्त कर देता है और स्वतंत्र इच्छाओं का परित्याग कर भगवान की इच्छा को अपनी इच्छा बना लेता है । इस प्रकार द्वैत को मिटाने और अद्वैत को प्राप्त करने का साधन बन जाता है । तृष्णा, अहंता, कामना, लोभ, मोह, मान और स्वार्थ की समाप्ति आत्म-समर्पण के साथ ही होती है और साधक को वह मनोभूमि प्राप्त होती है जिसमें भक्तिमार्ग की सारी कठिनाइयों से सहज ही छुटकारा मिल जाता है । गीता में आत्म-समर्पण योग को साधना मार्ग का मुकुटमणि कहा है । योगी अरविंद तथा अन्य अनेक तत्वदर्शियों ने इसी माध्यम से आत्मोत्कर्ष का प्रयास किया और उसे उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वैसा ही पाया भी जैसा कि शास्त्रकारों ने वर्णन किया है ।

भगवान की उपासना उनका कोई भी रूप मानकर की जा सकती है । पौधों में तुलसी, वृक्षों में पीपल, नदियों में गंगा, पत्थरों में शालिग्राम भगवान का प्रतीत मानकर पूजे जाते हैं । मंदिर में देव प्रतिमायें पाषाण एवं धातुओं की होती हैं उनमें श्रद्धा विश्वास का आरोपण कर जब यह आस्था जमा ली जाती है कि यह भगवान् हैं तो उसी भावना की प्रतिध्वनि उन्हीं मान्य स्वरूपों से टकरा कर लौटती है और वही फल मिल जाता है जो साक्षात् भगवान की भक्ति

करने पर उसके प्रत्यक्ष अनुग्रह द्वारा प्राप्त होता है । पतिव्रत धर्म को पालन करने में भी यही प्रयोजन सिद्ध होता है । पति को भगवान मानकर साधना करने में कोई अड़चन नहीं । जब पत्थर, नदी, वृक्ष, पौधों को भगवान माना जा सकता है और उनकी पूजा की जा सकती है तो मनुष्य शरीरधारी आत्मा के प्रति वैसी मान्यता बनाने में क्या कठिनाई हो सकती है ? योग साधना के प्रथम चरण में गुरुभक्ति को ईश्वर भक्ति का प्रारंभ माना जाता है । गुरु को आत्मसमर्पण करके शिष्य ईश्वर परायणता का भी अभ्यास करता है और जब उसमें निष्ठा जम जाती है तब उसी का विकसित स्वरूप परमात्मा में आत्मा का लय करने देने का निमित्त बन जाता है । तात्पर्य इतना ही है कि मनुष्य को भी भगवान का स्वरूप मानकर उसके माध्यम से आत्मसमर्पण का अभ्यास किया जा सकता है और योग साधन का लक्ष्य प्राप्त करने में इस सरल माध्यम से आगे बढ़ा जा सकता है ।

भारतीय नारियाँ इसी विचार से पतिव्रत धर्म को आत्म-कल्याण की भावना मानकर उसे अपनाती रही हैं । पति की दुर्बलताओं और त्रुटियों की उनने उपेक्षा ही की है । अच्छी भावनाओं की उत्कृष्टता बनी रहना तभी संभव है जब साधक अपने इष्ट के दोष, दुर्गुण एवं दुर्बलताओं की उपेक्षा करता हुआ अपने कर्तव्य एवं सद्भाव में रत्ती भर भी कमी न आने दे । पतिव्रता यही तो करती है । पति को अपना सर्वस्व मानकर उसकी इच्छानुगामिनी कोई नारी जब उसे आत्मिक प्रगति का, आत्म-समर्पण साधना का माध्यम समझती हुई एक भावुक भक्त की भूमिका में उतरती है तो उसके लिए आत्म-कल्याण का लक्ष्य प्राप्त कर लेना कुछ भी कठिन नहीं रह जाता ।

आत्मिक प्रगति के साथ-साथ पतिव्रत धर्म के पालन में लौकिक प्रगति की असंख्य संभावनाएँ निहित रहती है । संघर्ष तभी होता है जब दोनों के मन में भिन्नता रहती है । एक की राह पूर्व, दूसरे की पश्चिम होती है तभी मन मुटाव का अवसर आता है । यदि पति-पत्नी में से एक दूसरे का इच्छानुवर्ती बन जाय तो फिर संघर्ष का कोई कारण न रहेगा । सुधार की दृष्टि से प्रेमपूर्वक भी प्रयत्न किये जा सकते हैं, कुमार्गगामी को सन्मार्ग पर लाने के लिए प्रेम और त्याग

की अपनत्व भरी लड़ाई भी की जा सकती है । इस प्रकार भी हृदय परिवर्तन हो सकता है । सुधार के लिए कटु संघर्ष अनिवार्य नहीं । पति-पत्नी के बीच कोई मतभेद हो तो उसे सुलझाने में बिना संघर्ष किये ही अपनी सद्भावना शक्ति से भी बहुत कुछ प्रयोजन सिद्ध हो सकता है । त्याग से बढ़कर और कोई शक्ति नहीं, प्रेम से बढ़कर और कोई शस्त्र नहीं । इस शक्तिशाली शस्त्र को अपनाकर कोई भावनाशील पतिव्रता नारी अपने कुमार्गगामी पति को भी सन्मार्ग पर ला सकती है और यदि न भी ला सके तो वह अपना कर्तव्य करती हुई आत्म संतोष कर ही सकती है । संघर्ष को तो बचा ही सकती है ।

पति सुधरा हुआ हो तब तो कहना ही क्या है पर यदि उसका स्तर घटिया हो, विचार, चरित्र एवं व्यवहार की दृष्टि से वह उपयुक्त स्थिति से नीचा हो तब भी उसे निबाहने की भावना रखने वाली नारी पारिवारिक कलह को बचा सकती है और दाम्पत्ति जीवन को क्लेश-द्वेष की आग में जलने से तो सुरक्षित रख ही सकती है । पारिवारिक शांति का भौतिक जीवन में इतना बड़ा स्थान है कि उस पर धन, समृद्धि एवं अन्य अनेक सुख-सुविधाओं को निछाबर किया जा सकता है । संतोषी स्वभाव की सहिष्णु परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालने वाली, कर्तव्यपरायण एवं हँसमुख विनम्र स्वभाव की स्त्री को 'गृहलक्ष्मी' कहते हैं । जिस घर में ऐसी देवियाँ रहती हैं वहाँ सुख-शांति को भी विवश होकर रहना पड़ता है ।

सत्यवादिता के एक ही सद्गुण को अपना लेने से छोटे-छोटे अनेकों सद्गुण मनुष्य में स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार पतिव्रत धर्म अपना लेने पर नारी में वे अनेकों विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनके कारण वह पति परिवार में साम्राज्ञी बनी रहे । महाभारत में द्रौपदी-सत्यभामा संवाद प्रसिद्ध है । उस प्रसंग में द्रौपदी ने यही बताया है कि वह काली-कलूटी होते हुए भी अपने पतियों के हृदय पर अपने पतिव्रत एवं श्रेष्ठ स्वभाव के कारण किस प्रकार शासन करती है । उस प्रयोग को कोई भी स्त्री कर सकती है और बुरे से बुरे पारिवारिक वातावरण को अपने सद्गुणों के आधार पर स्वर्गीय सुख-शांति

का केन्द्र बना सकती है । जहाँ पतिव्रत की प्रगाढ़ आस्था होगी, आत्म समर्पण का भाव रहेगा वहाँ भावनागत कोमलता के कारण पति को सुखी और संतुष्ट बनाने की आकांक्षा की जायेगी और उस आकांक्षा की पूर्ति के लिए अपने गुण, कर्म, स्वभाव को उसी ढाँचे में ढालना पड़ेगा जिससे अभीष्ट परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकें । अपने सद्‌गुणों से ही तो पति तथा उसके परिवार को संतुष्ट रखा जाता है । पतिव्रता नारी को अनिवार्यतः अपनी स्वेच्छाचारिता त्याग कर अपनी इच्छाओं एवं स्वभाव को नरम बनाकर अनुकूलता उत्पन्न करके बहुत कुछ बदलना पड़ता है । पतिव्रता में ऐसा परिवर्तन अनायास ही होता भी है ।

पर-पुरुष से कुकर्म न करने का नाम ही पतिव्रत नहीं है । यह तो एक उसका एक छोटा-सा अंग-मात्र है । वस्तुतः आत्म-समर्पण की भावना का नाम ही पतिव्रत धर्म है । उसका स्तर ईश्वर भक्ति जैसा होता है । इस आध्यात्मिक साधना को अपनाने वाली नारी अहंताजन्य अगणित पाप-दोषों से मुक्त होकर द्वैत की मंजिल पार करती हुई अद्वैत की, ब्रह्म निर्वाण की जीवन स्थिति प्राप्त करती है और अपने सद्‌गुणों के कारण जिस घर में रहती है वहाँ स्वर्गीय सुख-शांति का वातावरण प्रस्तुत कर देती है । पतिव्रत का यह एक ही लाभ भौतिक दृष्टि से इतना बड़ा है कि उसे अन्य सफलताओं एवं संपन्नताओं से कहीं अधिक बढ़-चढ़ कर माना जायगा । दो आत्माएँ एक बनकर जब जीवन-यापन करती हैं तो उनका बल, साहस एवं अंतस्तल इतना अधिक विकसित होने लगता है जिसके माध्यम से अनेक कठिनाइयों से लड़ते हुए प्रगति पथ पर बढ़ते चलना और शक्तिमय, सार्थक जीवनयापन कर सकना सहज ही संभव हो जाता है । प्रगतिशील लोगों के जीवन में उनकी धर्मपत्नियों का भारी सहयोग रहा है । यदि उन्हें ऐसी नारी न मिली होती जो मनोबल बढ़ाने और जीवन को व्यवस्थित रखने में सहायता कर सके तो संभवतः वे गिरी स्थिति में ही गुजर करते और महापुरुष एवं प्रगतिशील बनने के लाभ से वंचित ही रह जाते । पतिव्रता नारी किसी पति के लिए दैवी वरदान ही कही जा सकती है ।

सुसंतति का मूल आधार दाम्पत्ति प्रेम है । बच्चे को विकसित, सुशिक्षित एवं सुसंस्कारी बनाने के लिए जितने भी उपाय हो सकते हैं उन सबसे अधिक प्रभावशाली मार्ग यह है कि पति-पत्नी में आंतरिक प्रेम रहे । रज-वीर्य के मिलने से बच्चे का शरीर बनता है पर उसका अंत:करण माता-पिता के परस्पर प्रेम और सद्भाव पर निर्भर रहता है । जिन पति-पत्नी के बीच अगाध प्रेम होगा उसके गर्भोत्पादक परमाणु एक ही विद्युत धारा से प्रभावित होकर अनुकूलता की दिशा में गतिशील रहेंगे । गर्भ में बालक के शरीर की वृद्धि माता के रस व रक्त से होती है पर चेतना एवं भावना-संस्थान माता-पिता के परस्पर प्रेमभाव की विद्युत धाराओं के आधार पर ही विकसित होता है । उन दोनों के बीच यदि द्वेष, घृणा, मनोमालिन्य रहे असंतोष के भाव रहें तो उसकी प्रतिक्रिया गर्भस्थ बालक के मानसिक विकास पर अत्यन्त घातक होती है । माता जैसी उद्विग्न, असंतुष्ट रहती है उसी के अनुरूप बालक का मन विकृतियों एवं मानसिक ग्रंथियों से भर जाता है और बड़ा होने पर वह अवज्ञाकारी, उद्दंड, अविवेकी, असंयमी आसुरी प्रकृति का होता है । आज ऐसे ही दुर्गुणी बालकों का बाहुल्य हो रहा है । उसका प्रमुख कारण पति-पत्नी के बीच रहने वाला दुर्भाव होता है ।

वर्णशंकर बालकों को हेय इसलिए माना गया है कि गुप्त व्यभिचार से उनका जन्म होने के कारण माता-पिता उसके आगमन को अशुभ मानते हैं, छिपाते हैं, पछताते हैं और गर्भस्थ आत्मा को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं । ऐसा न भी करें तो भी उस नव-निर्माण से उन्हें कोई प्रसन्नता नहीं होती । उस स्थिति में माता-पिता के बीच परस्पर दुर्भाव ही बढ़ते रहते हैं । इसका प्रभाव बालक की मनोभूमि पर पड़ता है और वह बड़ा होने पर एक असभ्य नागरिक बनता है । विदेशों में कुमारी माताओं के गर्भ से उत्पन्न जारज संतानों के पालन का राज्य की ओर से प्रबंध है । हर वर्ष लाखों बच्चे इस प्रकार उत्पन्न होते और पलते हैं । पर देखा यह जाता है कि वे मानसिक दृष्टि से विकसित नहीं होते, ऊँची शिक्षा मिलने पर भी वे घटिया कामों के योग्य ही बन पाते हैं । यही बात उन बालकों के बारे में लागू होती है पर माता-पिता के मनोमालिन्य के

कारण मानसिक दृष्टि से अविकसित ही रह जाते हैं । इन्हें स्पष्टतः वर्णशंकर नहीं कहा जा सकता पर लगभग वैसी ही मनोभूमि माता-पिता की रहने से बच्चे भी उत्कृष्ट भावना स्तर से वंचित रह जाते हैं । हमारी आगामी पीढ़ियों में नैतिकता, मानवता, चरित्र एवं आदर्शवादिता के तत्व क्रमशः घटते ही चले जा रहे हैं । इसका एक बहुत बड़ा कारण दाम्पत्ति जीवन में आत्मीयता की प्रगाढ़ता न होना भी है ही ।

पतिव्रत धर्म सुसंतति को जन्म देने के लिए नितांत आवश्यक है । बालकों से ही किसी परिवार का भविष्य उज्ज्वल बनता है । अपने वंश, कुल और परिवार का गौरव बढ़ाने वाले बालक वहीं जन्मेंगे जहाँ माता ने पतिव्रत धर्म को उचित महत्व दिया होगा । यह तत्व जहाँ जितना ही कम होगा वहाँ उसी अनुपात से बालकों के शरीर और मन में अगणित विकृतियाँ भरी रहेंगी । जो अभिभावक अपनी संतान में मनोवांछित स्वास्थ्य, सौंदर्य एवं सद्गुण देखना चाहते हैं उन्हें उसकी सबसे बड़ी तैयारी यही करनी चाहिए कि पति-पत्नी के बीच प्रगाढ़ प्रेम और विश्वास बना रहे ।

पत्नीव्रत-धर्म की आवश्यकता

नारी के लिए जो महत्व पतिव्रत का है वही ज्यों का त्यों नर के लिए पत्नीव्रत का है । जिस प्रकार नारी पतिव्रत धर्म का अवलंबन करके अपने आत्म-कल्याण, पारिवारिक स्वर्ग एवं सुसंतति की संभावना उत्पन्न करती है, उसी प्रकार पुरुष पत्नीव्रत धर्म का पालन करते हुए इन्हीं विभूतियों एवं सिद्धियों को उपलब्ध करता है ।

पतिव्रत धर्म और पत्नीव्रत धर्म एक दूसरे के पूरक हैं । नर और नारी की रचना इस प्रकार हुई है कि एक दूसरे की अपूर्णताओं को पूर्ण करके पारस्परिक सहयोग से एक सर्वांगपूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण करें । पत्नी को अर्द्धांगिनी कहा गया है, यही बात पति के लिए भी कही जा सकती है । दोनों का सम्मिलित स्वरूप ही एक परिपूर्ण इकाई बनता है । दो हाथ, दो पैर, दो आँखें, दो नथुने, दो कान, दो फेंफड़े मिलकर जिस प्रकार एक जोड़ा बनता है,

उसी प्रकार नर-नारी भी एक सर्वांगपूर्ण जीवन की आवश्यकता पूरी करते हैं । आँख, नाक, कान, हाथ, पाँव, नथुने, फेंफड़े आदि युग्मों में से एक यदि नष्ट हो जाय, बीमार, अशक्त, दुर्बल या अव्यवस्थित हो तो शरीर में उपहासास्पद कुरूपता बढ़ती है । लोग उसे काना, भेंड़ा, लँगड़ा, टेंटा, नकटा आदि कहकर चिढ़ाते हैं । बात वास्तविक होती है फिर भी उसमें अपमान अनुभव किया जाता है, क्योंकि अपूर्णता अपमान की ही बात होती भी है । मानव जीवन भी गाड़ी के दो पहियों की तरह पति-पत्नी रूपी दो संतुलित माध्यमों पर ठीक प्रकार लुढ़कता है । इनका पारस्परिक ताल-मेल न खाता हो तो गाड़ी को कुछ दूर तक घसीट भले ही लिया जाय उसमें लंबी यात्रा पूरी नहीं हो सकती । पति-पत्नी के बीच यदि संतुलन और सामंजस्य न हो तो किसी भी गृहस्थ का भविष्य अंधकारमय ही बना रहेगा ।

जिन्हें सार्वजनिक सेवा या किसी विशेष लक्ष्य से इतनी तन्मयता होती है कि गृहस्थ पालन एवं आजीविका उत्पादन में समय का एक अंश भी बर्बाद न हो ऐसे विशिष्ट मनस्वी लोगों के लिए बिना गृहस्थ बनाये भी काम चल सकता है । वे आजीवन अविवाहित रहना चाहें तो रह भी सकते हैं । जिन्हें कोई शारीरिक या मानसिक रोग है और गृहस्थ के उत्तरदायित्वों को निबाहने में असमर्थ हैं उनके लिए भी अविवाहित रहना ठीक है । पर सामान्य मनुष्य को गृहस्थ बनना ही पड़ता है इसके बिना उसकी अपूर्णता प्रगति के पथ में भारी अड़चन उत्पन्न करती है और उस अड़चन के कारण शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में मनुष्य पिछड़ा हुआ ही पड़ा रहाता है ।

प्राचीन काल के इतिहास पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी ऋषि गृहस्थ थे । योग-साधन एवं वनवास में रहते समय भी उनकी पत्नियाँ साथ रहती थीं । ब्रह्मचर्य पालन या न पालन मनुष्य की मनोदशा पर निर्भर है । गृहस्थ में भी आवश्यक ब्रह्मचर्य रह सकता है और अविवाहित लोग भी अपना सत्यानाश करते रह सकते हैं । इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए गृहस्थ मुनि भी सपत्नीक रहते थे । वशिष्ठ ऋषि

के बालकों को विश्वामित्र द्वारा मार डाले जाने की कथा प्रसिद्ध है । लोमश ऋषि के बालक श्रृंगी ऋषि ने अपने पिता के अपमान से क्रुद्ध होकर परीक्षित को शाप दिया था । इस प्रकार की कथाओं का वर्णन यहाँ किया जाय तो प्राय: प्रत्येक ऋषि की धर्मपत्नी और बालकों की सुविस्तृत चर्चा की जा सकती है । पत्नी बच्चों को त्याग कर भाग खड़े होने का वैराग्य तो अवैदिक, अशास्त्रीय और अनैतिक है । यह प्रथा तो बुद्धकाल में पड़ी थी, जिसका वैदिक धर्मानुयायी सदा से विरोध करते चले आ रहे हैं । वानप्रस्थ तो पत्नी समेत होता ही है । संन्यास में पत्नी की रुचि और सुविधा प्रधान रहती है । वह चाहे तो अपने पुत्र-पौत्रों के साथ रहे चाहे तो पति के साथ परिव्रजा या कुटीचक्र के रूप में उनका सहचरत्व ग्रहण करके वैराग्य धर्म का पालन करती रहे ।

देवताओं में से सभी गृहस्थ हैं । ईश्वर के अवतारों में भी अधिकांश ने अपना गृहस्थ बनाया है । ब्रह्मा की पत्नी, सावित्री, विष्णु की लक्ष्मी, शंकरी की पार्वती, इन्द्र की शची, वृहस्पति की अरुंधती प्रसिद्ध हैं । भगवान राम और कृष्ण जिनका नाम लेकर हम भव-सागर से पार होते हैं, गृहस्थ ही तो थे । ये दाम्पत्ति-जीवन की आवश्यकता एवं उपयोगिता को स्वीकार करते थे । उन्होंने मर्यादा पालन के लिए एक सद्गृहस्थ के रूप में ही अपना चरित्र प्रस्तुत किया है । जीवन की सुविधा तो दाम्पत्ति-जीवन में बढ़ती है साथ ही कितने ही जीवन लक्ष्यों की पूर्ति में भी भारी सहायता मिलती है ।

जो सुविधा नारी को नर का सान्निध्य स्वीकार करने में है वही नर के लिए नारी का आश्रय लेने में है । तत्वत: वे दोनों एक दूसरे की अपूर्णताओं को अपनी-अपनी विशेषताओं के द्वारा पूर्ण करते हैं । इनमें से कोई न बड़ा है, न छोटा । न किसी का अधिकार कम है, न अधिक । न किसी का गौरव न्यून है, न अधिक । हाथ, पैर, कान, आँख में से किसे ऊँच कहा जाय, किसे नीचा ? किसे बड़ा माना जाय, किसे छोटा ? गाड़ी के दो पहियों में से किसे महत्वपूर्ण माना जाय, किसे महत्त्वहीन ? वस्तुत: दोनों ही महत्वपूर्ण हैं, इनमें

से किसी को भी तुच्छ नहीं कहा जा सकता । यदि श्रेष्ठता कनिष्ठता ढूँढ़ी भी जाय तो नारी का पलड़ा ही भारी पड़ता है । बालक को जन्म देने में माता का अनुदान ही अधिक रहता है इसलिए पिता से माता को श्रेष्ठ माना गया है । पति-पत्नी में भी भारी प्रधान है । भगवान् के नाम-युग्मों में पत्नी का नाम पहले है पति का पीछे । लक्ष्मी-नारायण, उमाशंकर, सीताराम, राधेश्याम जैसे नामों में इसी तथ्य का प्रतिपादन होता है । पतिव्रत धर्म पालन करती हुई नारी जिस प्रकार अपने जीवन को सार्थक और संबंधित वातावरण को स्वर्गीय बनाती है ठीक वही बात पत्नीव्रत धर्म पालन करते हुए पुरुष भी करता है । इसलिए शास्त्रकारों ने पतिव्रत धर्म और पत्नीव्रत धर्म को एक ही न्याय तुला में तोला है और नर-नारी को समान निष्ठा के साथ अपने-अपने इन धर्म-कर्तव्यों का पालन करने का निर्देश किया है । पत्नी को अपने शरीर का आधा अंग मानकर उसे आत्मसात् करने में, उसकी प्रगति, प्रसन्नता एवं सुविधा के लिए अधिकाधिक त्याग-बलिदान करने में पति की सदाशयता उसी प्रकार परखी जाती है जैसे पत्नी की आत्म-समर्पण करते हुए पतिव्रत पालन करने में । वह एकांगी हो तो फलप्रद न होगा, एक पक्ष चाहे तो कर्तव्य भावना में उसे किसी प्रकार निबाहता रह सकता है पर उसका विकास संभव न होगा, विकास तो दूसरे पक्ष के आवश्यक सहयोग पर ही निर्भर है । ताली दोनों हाथों से बजती है । राम का पत्नीव्रत सीता को पतिव्रता बनाये रहा पर मंदोदरी ने रावण को मरते ही विभीषण से पुनर्विवाह कर लिया । यह तथ्य बताते हैं कि सुविकसित सजीव पतिव्रत तभी संभव है जब पति भी पत्नीव्रत के प्रति वैसा ही निष्ठावान हो जैसी कि सती साध्वी नारियाँ अपने धर्म-कर्तव्य के प्रति गहन आस्था धारण किये रहती हैं ।

पिछले दिनों परिस्थितियों से अनुचित लाभ उठाने की दुष्प्रवृत्ति ने मानव तन में घुस बैठने का जोरों से प्रयत्न किया है, फलस्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भयानक प्रवृत्तियों का बोलवाला हो चला है । शिशुओं का पालन और गृह व्यवस्थापिका का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व संभालने के कारण नारी का कार्य-क्षेत्र घर रहा है । घर में रहते हुए बौद्धिक विकास चातुर्य एवं

अनुभव संपादन करने के अवसर कम मिलते हैं । फलतः नारी बौद्धिक दृष्टि से कुछ पिछड़ी रह जाती है । भाग-दौड़ एवं कठिन श्रम जैसा कि नर को करना पड़ता है वैसा नारी को नहीं करना पड़ता फिर प्रसव एवं शिशुपालन का प्रत्यक्ष दबाव उस पर पड़ता है जिससे स्वास्थ्य भी कुछ न कुछ पिछड़ा ही रहता है । उपार्जन के माध्यम घर से बाहर होते हैं । पुरुष की स्थिति उसे इस कार्य के लिए समर्थ बनाती है इसलिए वह 'कमाऊ' कहलाता है और नारी उससे भी अधिक श्रम करती रहने पर भी 'बिना कमाऊ' रहती है । पुरुष कमाकर लाने पर गर्व करता है और इसके बदले में अपना वर्चस्व एवं अधिकार प्रदर्शित करता है । परिस्थितियों ने बुद्धि, स्वास्थ्य और उपार्जन की दृष्टि से नारी को नर से पिछड़ा रहने दिया है पर उसका अर्थ यह कदापि नहीं कि यह क्षमताएँ उनमें नहीं है या कम हैं । जिन देशों में उन्हें समुचित अवसर मिलता है वहां के पुरुषों की तुलना में अपनी उपयोगिता कुछ बढ़-चढ़कर ही सिद्ध करती हैं ।

शिक्षा, स्वास्थ्य और उपार्जन के कार्यक्षेत्र में समाज ने नारी को पीछे छोड़ा और नर को आगे बढ़ाया । इससे पुरुष को अधिक विनम्र, अधिक कृतज्ञ और अधिक उदार होना चाहिए था । नारी ने गृह-क्षेत्र के कठिन उत्तरदायित्व को स्वीकार कर पुरुष को अधिक समर्थ बनने का अवसर दिया तो इसमें उदारता उसी की मानी जायगी । यदि नारी यह स्वीकार न करती, अपने स्वतंत्र विकास पर अड़ जाती तो नर को चूल्हा, चौका और गृह व्यवस्था स्वयं ही संभालनी पड़ती । कितने ही देशों में पुरुषों को शिशु-पालन, भोजन-छाजन तथा दूसरे गृह कार्य करने पड़ते हैं और नारी उपार्जन तथा अन्य सामाजिक कार्यों को संभालती है । वहाँ उनकी प्रतिभा एवं स्थिति नर से कहीं अच्छी होती है । ऐसे देशों की स्त्रियों के लिए यही उचित है कि वे पुरुषों को धन्यवाद दें कि गृह कार्यक्रम का अपेक्षाकृत कहीं अधिक कठिन कार्य उनने अपने कंधे पर लेकर उन्हें बाहर का सरल और मनोरंजक कार्य करने की छूट दे दी । इसी प्रकार जिन देशों में वह सुविधा पुरुषों को प्राप्त है वहाँ उनका धर्म है कि नारी की उदारता से प्राप्त हुए इस अवसर का आभार मानें

और इसका प्रत्युपकार चुकाने के लिए उचित से भी अधिक सौहार्द्र सज्जनता एवं उदारता का परिचय दें ।

खेद की बात यह है कि नारी की उदारता से प्राप्त सुविधा का प्रत्युपकार चुकाने के स्थान पर उसे हेय और हीन माना जाने लगा और अपनी विकसित सामर्थ्य के अहंकार में नारी को पददलित, प्रतिबंधित एवं उत्पीड़ित किया गया । ऐसे नियम-उपनियम बनाये गये जिससे उसके मानवीय अधिकार भी छिन गये । पर्दा प्रथा भले ही यवन शासन काल में हिंदू ललनाओं के सतीत्व की रक्षा के लिए सदुद्देश्य से प्रचलित की गई हो, पीछे तो उसने एक कानून एवं परंपरा का रूप धारण कर लिया । पुरुष की अपेक्षा हेय एवं हीन, असभ्य एवं अविश्वस्त होने की क्रूरता आधी मानवता की नियति पर मानवता पर्दा प्रथा के पीछे छिप-छिप कर व्यंग्य करती रहती है । मनुष्य को मनुष्य के आगे मुँह ढक कर रहना पड़े, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के आगे खुले शब्दों में बोल न सके यह प्रतिबंध मानवीय सभ्यता का इतना बड़ा तिरस्कार है कि हमें अपनी इस अनैतिकता को धर्म-मान्यता घोषित करते हुए शर्म से डूब कर ही मर जाना चाहिए ।

भारतीय नारी का वर्तमान पिछड़ापन पुरुर्ष वर्ग की अमानुषिक क्रूरता का प्रतिफल है । इस पिछड़ेपन को उसने ईश्वर प्रदत्त वरदान माना और प्राप्त सुविधा का बुरे से बुरा दुरुपयोग करने का प्रयत्न किया । इसी दुरुपयोग का एक बड़ा प्रमाण यह है कि पतिव्रत धर्म नारी के लिए तो आवश्यक माना जाता है पर पुरुष उस प्रतिबंध से बचा रहना चाहता है और स्वयं इस संबंध में अनैतिकता एवं स्वच्छंदता का आचरण करना चाहता है । कामी, विषयी, लंपटी, दुराचारी और अनेकों अश्लील कुकर्मों में लगे हुए पुरुष भी अपनी पत्नी को सीता, साबित्री से कम नहीं देखना चाहते ।

बंधन, उत्पीड़न, त्रास एवं दमन के बल पर नारी को शारीरिक काम-वासनात्मक पतिव्रत निभाने के लिए विवश किया जा सकता है । पर पतिव्रत तो एक योग-साधन है, इसका संबंध श्रद्धा से है । श्रद्धा सज्जन के लिए, सद्‌गुणों के लिए उत्पन्न होती है, दुराचारी के लिए तो घृणा और द्वेष का उठना

ही स्वाभाविक है । साधक भगवान की, देवताओं की उपासना, आराधना इसलिए करते हैं कि अनेकों श्रेष्ठताओं की परिपूर्णता पर विश्वास रहता है । भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस की पूजा कोई दुष्ट-दुरात्मा ही कर सकता है । आमतौर से उनके प्रति सार्वभौम घृणा ही रहती है । उनके न तो कहीं मंदिर देखे जाते हैं और न कोई विवेकशील उनकी आराधना करता है । यही बात सदाचारी एवं दुराचारी पुरुषों के बारे में लागू होती है । जिन पुरुषों ने शारीरिक और मानसिक व्यभिचार के लिए अपने को स्वच्छंद माना है वे पत्नी से उस श्रद्धा की आशा नहीं कर सकते जो पतिव्रत धर्म का मूल है ।

मनुष्यों की सद्‌भावनाएँ एक दूसरे को अपनी ओर आकर्षित करती हैं, प्रेम से प्रेम और द्वेष से द्वेष की वृद्धि होती है । बलवान का उत्तरदायित्व दुर्बल से अधिक है । आज पुरुष समर्थ है तो उसका कर्तव्य है कि अपने आचरण और व्यवहार से ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करे जिनके रहते हुए पत्नी पत्नीव्रत के अतिरिक्त और कोई बात सोच ही न सके । स्त्रियाँ स्वभावतः देवी होती हैं । उनके नाम के आगे देवी शब्द लगाने की प्रथा, परंपरा वास्तविकता के आधार पर ही प्रचलित हुई है । भगवती देवी, शकुंतला देवी, राधा देवी, सावित्री देवी, विमला देवी आदि नामों से इस सचाई का ही उद्‌घोष है कि नारी में दैवी तत्व अत्यधिक मात्रा में विद्यमान है । यह मात्रा अक्षुण्ण बनी रहे, सुविकसित हो और परिपुष्ट होती चले इसके लिए यह आवश्यक है कि पुरुष अपना आंतरिक स्वरूप देवताओं जैसा बनाये रहे । भारतीय नारी स्वभावतः पतिव्रता होती हैं । कुलटा तो उसे पुरुषों की दुष्टता बहका कर ही बना देती है । पति परायणता की भावनाऐं विद्रोह न करने लगें, इतना ध्यान रखना पति का काम है । उसे अपने को आदर्श पति के रूप में रखना चाहिए और निष्ठापूर्वक पतिव्रत धर्म का पालन करना चाहिए, जैसे कोई सती-साध्वी नारी पतिव्रत धर्म का पालन करती है । उभय-पक्षीय कर्तव्य पालन से ही वह परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं जिसमें मनुष्य का गृहस्थ जीवन सार्थक हो और परिवार में स्वर्गीय वातावरण का आनन्द लाभ किया जा सके ।

क्या संतान न होना दुर्भाग्य है ?

विवाह होने के पश्चात् यह इच्छा और आशा की जाती है कि जल्दी से जल्दी संतान उत्पन्न हो । मानो विवाह की सफलता संतानोत्पादन पर ही निर्भर है । यदि विवाह होने के बाद संतान होने में कुछ देर हो जाती है तो पति-पत्नी भी उदास रहने लगते हैं, अपने को भाग्यहीन मानते हैं और पड़ोसी-रिश्तेदार भी दु:ख प्रकट करने लगते हैं । मानों भाग्यवान होने का संतान होना ही प्रमाण-पत्र हो । स्त्रियाँ तो अपने को निपुत्री होना एक अभिशाप समझती हैं और बिना बच्चे वाली के बारे में ऐसा सोचती हैं मानों वह बेचारी बहुत ही दु:ख-दरिद्र में ईश्वरीय कोप की भाजन, विपत्ति की मारी हुई हैं । जिन्हें संतान नहीं होती वे इसके लिए इतने चिंतित रहते हैं कि वैद्य डाक्टरों से लेकर पीर, मुरीद, पंडित, ओझा के फेर में उन्हें अपनी गाढ़ी कमाई का एक बहुत बड़ा भाग बर्बाद करते रहना पड़ता है । सफलता न मिलने पर उन्हें अपने दुर्भाग्य का रोना ही हर वक्त आता रहता है । कई बार तो निपुत्री नर-नारियों को अपनी जिंदगी भी भार मालूम पड़ने लगती है ।

संतान न होने को दुर्भाग्य मानना भी एक नितांत भ्रमपूर्ण अज्ञानमूलक मान्यता है । इस मान्यता के पीछे न कोई तर्क है और न वास्तविकता । केवल बात इतनी भर है कि लोगों ने यह मान्यता बना रखी है कि संतान ही विवाह की सफलता का प्रमाण-पत्र है ।

प्राचीन काल में जब इस देश की जनसंख्या बहुत थोड़ी थी, उर्वरा भूमि वन और पठारों के रूप में योजनों तक बेकार पड़ी थी, उसका उपयोग करने वाला कोई न था, तब लोगों की यह इच्छा रही होगी कि अपने पुत्र, पौत्र अधिक हों जिनके सहारे अपना बड़ा कुटुम्ब बने और अधिक भूमि पर अधिकार करके अपनी समृद्धि बढ़ाने का अवसर मिले । जातीय-संघर्ष भी यहाँ कम न था । असुर-संस्कृतों और सुर-संस्कृतों के बीच वैसे ही संघर्ष निरंतर चलते थे जैसे अभी भी कहीं-कहीं जातीय संघर्ष फूट पड़ते हैं । ऐसे संघर्षों में विजय जनसंख्या पर निर्भर रहती थी । हर कुटुम्ब यह प्रयत्न करता

था कि उसका जन-बल बढ़ा-चढ़ा रहे । असुरों से आत्मरक्षा के लिए भी परिवार वृद्धि एक सैन्य-संगठन की तरह आवश्यक समझी जाती थी । इसी से संतानोत्पादन को अधिक प्रोत्साहन दिया जाता था । आशीर्वाद में धन, संतान की प्राप्ति के मंगल वचन बोले जाते थे । संतान के गर्भ में आने या जन्म लेने पर भी हर्षोल्लास के उत्सव मनाये जाते थे । कृषि, पशु-पालन और संघर्ष में अधिक उपयुक्त होने के कारण ही शायद पुत्र को कन्या से अधिक महत्व मिला हो । पुरुषों में बहु विवाह की प्रथा भी शायद इसीलिए चली कि कुटुम्ब जल्दी से बहुत बड़े विस्तार के साथ बढ़ सके । युद्ध में पराजितों की स्त्रियों को भी विजेता लोग शायद इसीलिए अपहरण कर ले जाते हों कि उनके द्वारा वे अपना परिवार जल्दी बढ़ा सकेंगे । ऐसे समय में संतानोत्पादन को कोई बहुत बड़ी सफलता या आवश्यकता माना जाता रहा हो तो यह बात एक हद तक समझ में भी आती है ।

किंतु आज तो स्थिति उस समय की अपेक्षा बिल्कुल ही भिन्न है । अन्न के एक-एक दाने के लिए हम विदेशों के मुहताज हैं । यदि विदेशी लोग कृपापूर्वक हमें अन्न न दें तो लाखों, करोड़ों को भूखा मरना पड़े । सरकार जी तोड़ कर अन्न स्वावलंबन के लिए हाय-तोवा कर रही है पर लक्ष्य की पूर्ति अभी भी कठिन हो रही है । कृषि के लिए जमीन कम पड़ गई । पशुओं के चरागाह नहीं रहे । उनको मार-काट कर जल्दी खा जाने की बात सोची जा रही है, ताकि पशुओं के हिस्से की जमीन का भी मनुष्य ही उपभोग कर सके । मकानों की समस्या दुर्लभ हो रही है । सड़कों पर चलने के लिए जगह नहीं, रेल और मोटरों में भीड़ समाती नहीं । दूध भी दुर्लभ हो रहा है । गंदगी साफ नहीं हो पाती, अखाद्य और अस्वच्छता की समस्या ऐसी विषम हो गई है कि हैजा, तपेदिक आदि रोगों से लाखों मनुष्यों के मक्खी, मच्छरों की तरह मरने की रिपोर्ट आये दिन अखबारों में छपती रहती है । इन विषम परिस्थितियों में राष्ट्रीय दृष्टि से यह विचारणीय है कि जनसंख्या का बढ़ते जाना-विशेषतया भारत जैसे साधन-हीन देश के लिए कहाँ तक उचित होगा ?

हर दम्पत्ति को संतान होनी ही चाहिए और विवाह के बाद जल्दी से जल्दी होनी चाहिए इस आकांक्षा को आज की परिस्थितियों को देखते हुए, एक विशुद्ध अंध परंपरा का अनुसरण करना ही कहा जा सकता है ।

बहुत संतान, जल्दी संतान, जरूर संतान की रट लगाया जाना अब बंद करना चाहिए । जो लोग इस सड़ी-गली माँग को महत्व दे रहे हैं, उन्हें जनसंख्या वृद्धि की विभीषिका को समझना और समझाया जाना चाहिए । स्वास्थ्य विज्ञान के विश्व विख्यात विशेषज्ञ प्रो० हर्मन की बेटी ने स्वास्थ्य-कांफ्रेस में अपना खोजपूर्ण निबंध पढ़ते हुए विश्व को जो चेतावनी दी थी उसे हम लोग ध्यानपूर्वक पढ़ें और सुनें तो ही अच्छा है । उनने कहा-"जिस गति से संतानोत्पदान अभी हो रहा है, यदि वह क्रम न रुका तो सन् २०५० में दुनियाँ की आवादी ९ अरब हो जायगी और तब इस धरती पर इतने लोगों के लिए न खाना मिल सकेगा, न शुद्ध वायु, न पानी, न बिजली । प्रति व्यक्ति पीछे केवल १ वर्ग मीटर जगह आवेगी जिसमें केवल खड़े होने भर को जगह मिल सकेगी । जानवरों का नाम-निशान तक इस दुनियाँ में मिट जायगा, क्योंकि जब मनुष्यों के रहने और खाने के लिए ही धरती की शक्ति पर्याप्त न रहेगी तो पशुओं को उसमें से हिस्सा कौन बटाने देगा ? लोग उन्हें मार-काट कर बहुत पहले ही चट कर जावेंगे ।" इन विषम परिस्थितियों में संतानोत्पादन को जितना निरुत्साहित किया जाय उतना ही उत्तम है ।

जिनके कंधों पर बच्चों का उत्तरदायित्वआ गया है उन्हें तो वह निबाहना ही चाहिए और अपने पीछे समाज को श्रेष्ठ नागरिक छोड़ जाने का कर्तव्य पालन करना ही चाहिए । कहते हैं कि संतानें से अपना नाम और वंश चलता है । यह 'चलना' यश की शृंखला अविच्छिन्न रूप से चलते रहने के रूप में ही हो, तो उसमें कुछ तथ्य माना जायगा । अन्यथा दो-चार पीढ़ी बाद के लड़के बच्चे भी अपने पूर्व पुरुषों का नाम भूल जाते हैं । जिनका नाम तक अपने नाती, पोतों, परपोतों तक को याद नहीं, उसका नाम दुनियाँ में चल रहा है, यह मान्यता केवल भ्रम मात्र है ।

नाम उसी का चलेगा जो अपने पूर्व पुरुषों की भांति स्वयं भी श्रेष्ठ कार्य

करते हुए अपने पूर्वजों का यश बढ़ा रहा है और अपने पीछे ऐसे सभ्य नागरिक छोड़े जा रहा है जो प्राचीन गौरव को कितना भी कष्ट आने पर गिरने न दें । वंश गौरव की यशस्वी परंपरा चलाने वाली संतान का निर्माण कर सकना जिनके बल-बूते की बात नहीं है उन्हें केवल प्रजनन करते रहने मात्र से यह आशा न करनी चाहिए कि हमारा नाम और वंश चलता रहेगा । कुतिया, बकरी और शूकरी हर साल दर्जनों बच्चे पैदा करती हैं उनका वंश कहाँ चलता है ? नाम-निशान कहाँ रहता है ? जो लोग कीड़े-मकोड़ों की तरह कैसे भी शुभ-अशुभ कर्म करके कीट-पतंगों की तरह अपनी जिंदगी के दिन पूरे कर रहे हैं वे अपना भी नाम अपने हाथ डुबाये जा रहे हैं, फिर उनसे बेचारे पूर्व पुरुषों को ही क्या आशा होनी चाहिए कि उनसे उनका नाम चलेगा ?

जिन्हें संतान प्राप्त हैं उन्हें अपने उत्तरदायित्वों के प्रति सजग होना चाहिए और बच्चों में सद्गुण उत्पन्न करने के लिए वही सद्गुण पहले अपने में उत्पन्न करने चाहिए जिन्हें हम बच्चों में देखना चाहते हैं । यह तथ्य भली प्रकार ध्यान में रखा जाना चाहिए कि "पर उपदेश कुशल" रहने मात्र से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । शिक्षा वही सार्थक होती है जो अपने आचरण के द्वारा दूसरों के अंत:करण को प्रभावित करके दी जाती है । बच्चे डाँटने, लताड़ने से नहीं वरन् इस बात से प्रभाव ग्रहण करते हैं कि हमारे अभिभावक क्या करते हैं और किस प्रकार अपना जीवन बिताते हैं । परीक्षा के समय निरीक्षक जैसे छात्रों की गतिविधियों पर ध्यान रखते हैं, उसी प्रकार बच्चे अपने घर वालों की क्रियाओं, भावनाओं, दोषों और गुणों को अत्यंत बारीकी में देखते समझते रहते हैं और उनका अनुकरण करके प्राय: वैसे ही बन जाते हैं । इसलिए संतानोत्पादन द्वारा नाम और वंश चलाने की इच्छा करने वालों को यह पूरी तरह ध्यान रखना चाहिए कि सुसंस्कृत बना सकने वाले सद्गुण सबसे पहले अपने में उत्पन्न करें, तब वंश वृद्धि की बात सोचें ।

जिन्हें संतान प्राप्त नहीं है, वे इस दृष्टि से अधिक भाग्यवान हैं । वे सहज ही ऐसे उत्तरदायित्व से बचे रहते हैं । यदि अपने को बालकों के सुशिक्षण के उपयुक्त नहीं भी बनाया है, अपने दोष नहीं भी सुधर सके हैं तो उनका

प्रतिफल उन्हें ही भोगना पड़ेगा । संतान को विरासत में वह दुर्गुण मिलने से बच्चों को तथा समाज को आपत्तियों का सामना तो न करना पड़ेगा । एक आदमी स्वयं भी अपराध करे और दूसरों से भी करावे, तो इन दोनों में वह अधिक अपराधी माना जायगा जो अपने साथ-साथ दूसरों को भी अपराधों की प्रेरणा देता है, नये अपराधी बढ़ाता है । गुरु को शिष्य के और माता-पिता को अपनी संतान के पापों का दशांश दंड भुगतना पड़ता है । सत्कर्मों का दशांश पुण्य भी उन्हें इसी आधार पर मिलता है कि अपने-अपने उत्तरदायित्व को कितना किस प्रकार निबाहा । पितरों को पिंडदान देकर सद्गति कराने का रहस्य यही है कि संतान के शुभ कर्मरूपी पिंडों का पुण्य फल पूर्वजों को मिले ।

शास्त्रकारों ने पिंडदान का एक अलंकारिक-भावनात्मक विचार इसलिए दिया है कि लोग परलोक में अपनी सद्गति के स्वार्थ में भी संतान को पिंडदान देने का अधिकारी-सत्कर्मकर्त्ता और सुसंस्कृत बनाने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहें और संतान के प्रति अपने कर्तव्य-पालन में भूल न करें । हमें जानना चाहिए कि हर कोई अपने-अपने पाप-पुण्य का फल प्राप्त करता है । स्वयं कर्तव्याघात कर रहे हैं तो नरक की ही तैयारी कर रहे हैं । संतान को सद्गुणी न बना सकना भी एक कर्तव्याघात है, जिसका प्रतिफल नरक मिलना होना चाहिए । जिनमें यह क्षमता नहीं है उनका संतानोत्पादन की जिम्मेदारी से बचे रहने पर एक पाप से तो बचाव हो ही जाता है कि वे संतान को सुयोग्य न बना सके । तब उन्हें उतने अंश में नारकीय त्रास कुछ तो कम ही भुगतना पड़ेगा । इस दृष्टि से वे लोग नफे में ही रहेंगे जिनको किसी कारणवश संतानोत्पादन का उत्तरदायित्व नहीं उठाना पड़ा है ।

जिन्हें ईश्वर के अनुग्रह से संतान का उत्तरदायित्व वहन नहीं करना पड़ रहा है, जिन्हें संतान प्राप्त नहीं है, उन्हें अपने को दूसरों की अपेक्षा अधिक सुखी एवं अधिक सौभाग्यशाली मानना चाहिए, उन्हें अपने आपको अभागा तो कभी भी नहीं मानना चाहिए ।

सच तो यह है कि यह एक सुअवसर और सौभाग्य है कि जो शक्तियाँ

बच्चों के लालन-पालन में लगतीं वे बच जाने से मनुष्य अधिक आत्मोन्नति कर सकता है । अधिक समाज-सेवा में लग सकता है, आर्थिक दबाव और चिंताओं से बचा रह सकता है और बंधन-मुक्त शांतिमय जीवन व्यतीत कर सकता है । श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण करने की अपनी योग्यता न होने से कुसंस्कारी बालकों के उत्पादन का पाप भी अपने को नहीं लगता और संतान के अपयश में अपने को भी भागीदार बनाने का अवसर नहीं आता । बढ़ती हुई जनसंख्या आज सारे संसार के लिए एक भारी विपत्ति बनी हुई है । सबसे बड़ी सार्वभौम समस्या बढ़ती हुई जनसंख्या की ही है । इस विभीषिका का जैसे-जैसे विकराल रूप बढ़ता जायगा उतनी ही उतनी मानव-सभ्यता खतरे में पड़ती जायगी । इसलिए विचारशील लोग संतति-नियमन के विभिन्न पहलुओं पर बहुत ध्यान दे रहे हैं और जो कुछ बन पड़ रहा है, कर भी रहे हैं ।

जिन्हें संयोगवश ही सही-संतानोत्पादन का उत्तरदायित्व नहीं उठाना पड़ रहा है, वह अनजाने ही विश्व-मानव की एक भारी सेवा कर रहे हैं । उनके द्वारा खतरे का उतना समाधान तो होता ही है जितने के लिए कि वे स्वयं उत्तरदायी होते । संतानहीनों में से किसी को भी अभागा नहीं मानना चाहिए । वस्तुत: वे दूसरों की अपेक्षा अधिक सौभाग्यशाली हैं उन्हें ऐसा ही मानना चाहिए । इससे दु:खी होने का तो रत्तीभर भी कोई कारण नहीं है ।

जिन्हें संतान नहीं है उन दम्पत्ति को अपने मन में खिन्न तनिक भी नहीं होना चाहिए । वरन् अपने मन में अपेक्षाकृत प्रसन्न होना चाहिए कि ईश्वर ने उन्हें अनेक उत्तरदायित्वों से बचा दिया । बच्चों के लालन-पालन, शिक्षा, दीक्षा, स्वास्थ्य, सुरक्षा, विवाह-शादी, धंधा, रोजगार आदि की अगणित चिंताएँ माता-पिता के सिर पर आती हैं । वे यदि ठीक तरह निभाई न जा सकें तो चित्त को भारी ग्लानि और व्यथा होती हैं ।

इस युग में ऐसी आशा करना व्यर्थ है कि संतान बड़ी होकर हमारी सेवा करेगी, सहारा बनेगी और सुख देगी । इन दिनों जो हवा चल रही है उसमें पशु-प्रकृति का ही बोलवाला है । पशुओं के बच्चे तभी तक अपने माता-पिता

का सहारा लेते हैं जब तक कि वे अपने पैरों पर खड़े नहीं हो जाते । जब वे चलने-फिरने लगते हैं तो फिर माँ-बाप से अपना रिश्ता तोड़ लेते हैं और इस बात की परवाह नहीं करते कि उन्हें जन्म देने वाले जनक-जननी का क्या हाल है । मनुष्य के बच्चे भी अब उसी रास्ते पर चल रहे हैं । जब तक वे अपने पैरों पर खड़े नहीं होते तभी तक उन्हें माता-पिता की जरूरत अनुभव होती है । विवाह हो जाने पर तो उनकी आँखें ही बदल जाती हैं ।

कई व्यक्ति ऐसा सोचते हैं कि हमारे बाद हमारी सम्पत्ति, खेती, घर, जायदाद आदि का उपयोग कौन करेगा ? हमारा उत्तराधिकारी कौन बनेगा ? ऐसे विचार अत्यंत संकीर्ण अनुदार और स्वार्थी लोगों के लिए ही उपयुक्त हो सकते हैं । भारत जैसे गरीब देश में जहाँ एक-एक दाने के लिए तरसने वाले गरीबों की कमी नहीं, जहाँ बच्चे इसलिए अशिक्षित रह जाते हैं कि उनके माँ-बाप फीस और पुस्तकों के पैसे जमा नहीं कर पाते, जहाँ अगणित मनुष्य उचित चिकित्सा के अभाव में काल कवलित होते रहते हैं, जहाँ सद्भाव के प्रकाश के अभाव में मनुष्य घोर अंधकार की ओर बढ़ते चले जा रहे हैं, जहाँ हर क्षेत्र में सहायता की पुकार आ रही है, वहाँ यह सोचना कि हमारे पैसे का क्या होगा ? हमारी कमाई कौन खायगा ? यह प्रश्न ही कहाँ उठता है ? बेटा, साला, जीजा, मौसा, भतीजा ही अपनी कमाई को पायें और दूसरे अत्यंत जरूरतमंद उसका कोई लाभ न लेने पायें, यह कैसी विलक्षण कठोरता है । पत्थर जैसे निर्दय मनुष्य ही ऐसी बात सोच सकते हैं ।

हमारे चारों ओर ऐसी निम्र परिस्थितियाँ, आवश्यकतायें बिखरी पड़ी हैं जिनके लिए यदि कोई व्यक्ति अपनी कमाई खर्च कर डाले तो उससे अनेकों पीड़ितों के आँसू पुछ सकते हैं, जनहित की दृष्टि से बड़ा उपयोगी कार्य हो सकता है । सत्कार्यों के लिए अपनी सम्पत्ति दे जाने वाले लोगों के नाम भी तो अमर होते हैं । उनका यश भी तो फैलता, उन्हें स्वर्ग और पुण्य फल भी तो प्राप्त होता है, उनके त्याग का अनुकरण करने की दूसरों में इच्छा जागृत होने से सत्कार्यों की परंपरा भी तो प्राप्त होती है । इतनी बातों को तुच्छ मानने वाला और केवल अपने बेटे-पोतों को ही कमाई का लाभ लेने की बात सोचने वाला

कंजूस वस्तुतः भारी संकीर्णता के गर्त में पड़ा हुआ है । अच्छा हो, ईश्वर ऐसे संकीर्ण लोगों को सात जन्म में भी संतान न दे । अन्यथा उनकी यह क्षुद्रता वंश परंपरा के हिसाब से अगली पीढ़ियों में बढ़ेगी तो संसार का सब प्राकार अहित ही होगा ।

प्रसिद्ध देशभक्त राजा महेन्द्र प्रताप का उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत है । उन्हें पुत्र नहीं था । लोग ताना मारते थे कि तुम्हारी सम्पत्ति कौन खायेगा ? उन्होंने प्रेम महाविद्यालय नामक एक आदर्श शिक्षा संस्था स्थापित की और कुछ थोड़ा-सा निजी खर्च के लिए रखकर शेष सारी सम्पत्ति प्रेम महाविद्यालय को दान कर दी । हजारों बच्चे उस विद्यालय से उच्च कोटि की शिक्षा प्राप्त करके निकले हैं और राष्ट्र की महत्वपूर्ण सेवा कर रहे हैं । राजा महेन्द्रप्रताप इन छात्रों को देखकर अपने जैसे ही मानते और प्रसन्न होते थे । जर्मनी का अधिनायक हर हिटलर अविवाहित और संतान रहित मरा । सारा जर्मन राष्ट्र उसे फ्यूहरर अर्थात् 'पिता' कहता था । जर्मनी के हर नागरिक को उसने अपना बेटा माना । उदार दृष्टिकोण के सभी सत्पुरुष सारे मानव समाज को अपना परिवार मानते हैं । 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उनकी दृष्टि होती है । अपने और पराये की आपापूती क्यों करनी, सभी तो अपने हैं । इतने असहाय मनुष्य इस संसार में मौजूद हैं कि अपनी सारी सम्पत्ति भी उनकी एक बहुत छोटी आवश्यकता को न पूरी कर पावेगी । ऐसी दशा में यह सोचना कि हमारी सम्पत्ति को कौन खावेगा ? कौन लेगा ? उसका उत्तराधिकारी कौन बनेगा ? कैसा उपहासास्पद विचार है ?

संतान न होने पर किसी को गोद रख लेने का विचार राजगद्दी कायम रखने जैसी मनोवृत्ति कही जायगी । किसी एक ही लड़के को सारा धन दे जाने से क्या तो अपना, क्या उस लड़के का ओर क्या समाज का लाभ होगा ? वरन् तीनों की ही इसमें हानि है । अपनी हानि इसलिए कि वह धन अपने हाथ से तो चला गया पर न पुण्य मिला न यश, जिंदगी भर की सारी कमाई यों ही गुड़-गोबर हो गई । उस गोद में आए हुए लड़के की हानि यह कि मुफ्त में मिला धन उसे कुमार्ग पर की प्रेरणा देगा । ऐसे लड़के जिन्हें मुफ्त ही दौलत

मिली है आमतौर से व्यसनी, आलसी, उड़ाऊ और दुर्व्यसनी हो जाते हैं और अंत में वह धन समाप्त हो जाने पर गरीबों की अपेक्षा भी अधिक दुःख पाते हैं । समाज का अहित इसलिए कि वह सम्पत्ति यदि किसी सार्वजनिक सत्कार्य में लगती तो उससे कितनों को कितना लाभ मिलता । जरूरतमंद उससे कितना लाभ उठाते पर संकीर्णता ने वह कुछ भी न होने दिया । जब अपने खून में पैदा हुए लड़के माँ-बाप की कोई परवाह नहीं करते तो यह आशा करना कि गोद लिए लड़के सेवा करेंगे और नाम चलावेंगे, मूर्खों की दुनियाँ में सैर करने जैसी बात ही होगी ।

कई बार इस संदर्भ में पैशाचिक कृत्य होते देखे गए हैं । कुचाली लोग उन संतानहीनों की भावनाएँ भड़का कर घोर जघन्य कर्म कराते हैं । देवी-देवताओं के नाम पर निरपराध मूक पशु-पक्षियों का बलिदान किये जाने की प्रथा जहाँ कहीं प्रचलित है वहाँ आधे से अधिक जीव संतान होने की कामना या हो जाने पर उसकी मनौती चुकाने के लिए मारे जाते हैं । कई बार तो दूसरों के बच्चे चुराकर उनकी बलि भी अपने यहाँ संतान होने की कामना से कर दी जाती है । ऐसे कितने ही मुकद्दमे अदालतों में चल चुके हैं और इन अपराधियों को समुचित दंड मिला है । घरों में, खलिहानों में आग लगाने से भी कई लोग संतान होने की आशा करते हैं । अघोरी, तांत्रिक और ऐसे ही पिशाचकर्मी लोग इन भोले किंतु कामना के पीछे अंधे लोगों से कुछ भी करा लेते हैं और लोक-परलोक का हर प्रकार का नाश करते हैं ।

संतान की कामना व्यभिचार की प्रवृत्ति को जन्म देती है । कई बार स्त्रियाँ अपने पति में कोई कमी होने की बात सोचकर गुप्त व्यभिचार की ओर उन्मुख होती हैं । पड़ोस के गुंडे-बदमाश इस प्रकार के जाल उन भोली स्त्रियों पर फेंकते रहते हैं जो संतान के लिए अत्यधिक लालायित हैं । इसी कुचक्र में बहुधा उन्हें अपने सतीत्व से हाथ धोने का पश्चाताप भरा अनर्थ करना पड़ता है ।

संतान न होने पर कई व्यक्ति दूसरा विवाह करने की बात सोचते हैं ।

उनके मन में यह बात समाई हुई होती है कि स्त्री में किसी दोष के कारण ही संतान नहीं हो रही है, इसलिए दूसरा विवाह कर लेने पर यह उद्देश्य अवश्य पूरा हो जायगा । पर डाक्टरी परीक्षणों की रिपोर्ट इससे भिन्न है । उनके मतानुसार संतानहीन लोगों में से तीन चौथाई पुरुषों का ही वीर्य दोषपूर्ण होता है । ऐसी दशा में बेचारी स्त्री को दोष दिया जाना और उसका तिरस्कार करके दूसरा विवाह करना सरासर अन्याय ही कहा जायगा । जिस घर में दो पत्नी रहती हैं वह साक्षात् नरक ही बना रहता है । जब दशरथ जैसे महापुरुष के घर में दो नारियाँ न निभ सकीं तो साधारण घरों में क्या निभेंगी ? पतिव्रत और पत्नीव्रत को धर्म शास्त्रों में समान महत्व दिया गया है । एक पति के रहते कोई स्त्री दूसरा पति रखने लगे तो वह पाप माना जायगा । इसी प्रकार एक पत्नी के रहते दूसरी और ले आना धर्म और न्याय की दृष्टि से घोर पाप ही माना जाता है । मध्यकाल के सामंतवादी युग की अनेक नृशंसताओं में एक भारी पाप यह भी था कि पुरुष कई-कई स्त्रियाँ एक साथ रखने लगे थे । अब विचारशीलता का उदय होता जा रहा है और इस जघन्य प्रथा को सर्वत्र हेय माना जा रहा है । भारत सरकार ने अपने कर्मचारियों के लिए नियम बना दिया है कि एक पत्नी के रहते दूसरी लाने का अपराध करने वालों को नौकरी से निकाल दिया जायगा । सर्व साधारण के लिए भी ऐसा ही कानून अपेक्षित है । आशा है वह बनकर भी रहेगा ।

दूसरा विवाह कर लेने पर यदि पुरुष संतानोत्पादन क अयोग्य हुआ तो दूसरी पत्नी को भय होता है कि कहीं तीसरा विवाह न कर ले इसलिए वह पर-पुरुषों की ओर आकृष्ट होती है । पहली पत्नी का भी धैर्य टूटता है और वह भी सौत की देखादेखी अनीति की ओर कदम बढ़ाती है । देखा यह गया है कि जहाँ संतान न होने पर आकाश सिर पर उठाया गया है वहाँ व्यभिचार जन्मा है और उस पाप से वह घर बर्बाद होकर रहे हैं । संतान का सुख मिल भी जाय तो भी दूसरे विवाह के दुष्कर्म से उतनी अशांति एवं विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं जो संतानहीन रहने की अपेक्षा हजारों गुनी अधिक होती हैं । कई माता-पिता अपने बच्चों को संतान न होने पर दूसरे विवाह पर जोर देते हैं और

नाती को गोद में खिलाने के लोभ से पुत्र-वधू के गले पर छुरी चलाते हैं । इन हृदयहीन अविवेकी माता-पिता को नरक और पाप का भय बुढ़ापे में भी पैदा नहीं होता यह देखकर आश्चर्य होता है ।

हर अभाव के लिए ईश्वर को कोसना और हर वस्तु प्राप्त हो ही जाय यह आकांक्षा करना मानव प्राणी की सीमित मर्यादा का उल्लंघन करना ही है । असंतोष और जलन में, संतोष और शांति से ही चैन मिलता है । संतानहीन होने पर भी इसे एक ईश्वरीय कृपा मानकर संतोष की विचारधारा ही उपयुक्त और शांतिदायक हो सकती है । असंतोष में नष्ट होने वाली मानसिक शक्तियों को यदि रचनात्मक दिशा में मोड़ा जा सके तो संतानहीनों को बच्चों के लिए खर्च होने वाली शक्तियों का किसी अधिक महत्वपूर्ण कार्य में खर्च कर अधिक उत्कृष्ट जीवन लाभ प्राप्त कर लेने का अवसर मिल सकता है ।

बालकों के निर्माण का आधार

बच्चों का सबसे पहला और प्रमुख विद्यालय होता है घर । घर के वातावरण में मिली हुई शिक्षा ही बालक के संपूर्ण जीवन में विशेषतया काम आती है । माता बच्चे का पहला आचार्य बताई गई है, फिर दूसरा नंबर पिता का और इसके उपरांत शिक्षक, आचार्य, गुरु का स्थान है । मानव जीवन की दो तिहाई शिक्षा माँ-बाप की छत्रछाया में घर के वातावरण में सम्पन्न होती है । घर के वातावरण की उपयुक्तता, श्रेष्ठता पर ही बच्चों के जीवन की उत्कृष्टता निर्भर करती है और जीवन की उत्कृष्टता शाब्दिक अक्षरीय ज्ञान पर नहीं वरन् जीवन जीने के अच्छे तरीके पर है ।

अच्छा स्वभाव, अच्छी आदतें, सद्गुण, सदाचार ही उत्कृष्ट जीवन के आधार हैं जो पुस्तकों के पृष्ठों से, स्कूल, कालेजों, बोर्डिंग हाऊस की दीवारों से नहीं मिलते वरन् घर के वातावरण में ही सीखने को मिलते हैं । इन्हीं गुणों पर जीवन की सरलता, सफलता, विकास निर्भर होता है । जो माँ-बाप इस उत्तरदायित्व को निभाते हुए घर का उपयुक्त वातावरण बनाते हैं वे अपने बच्चों को ऐसी चारित्रिक सम्पत्ति देकर जाते हैं जो सभी सम्पत्तियों से बड़ी है,

जिसके ऊपर सम्पूर्ण जीवन स्थिति निर्भर करती है ।

घर में विपरीत वातावरण होने पर स्कूल, कालेजों में चाहे कितनी अच्छी शिक्षा दी जाय वह प्रभावशाली सिद्ध नहीं होती । हालांकि स्कूल के पाठ्यक्रम में चरित्र, सदाचार, साधुता, सद्‌गुणों की बहुत-सी बातें होती हैं, पर वे केवल शाब्दिक और मौखिक ज्ञान का आधार रहती हें अथवा परीक्षा के प्रश्नपत्रों में लिखने की बातें मात्र होती हैं । विद्यार्थी के जीवन में क्रियात्मक रूप से उनका कोई महत्व नहीं होता । इसका प्रमुख कारण घर के विपरीत वातावरण का होना ही होता है । बच्चों के नैतिक स्तर की जानकारी के लिए एक स्कूल में परीक्षा के उपरांत बच्चों को ही अपनी कापियाँ जाँचने को कह दिया गया । बाद में जाँच करने पर पता चला कि बहुत से लड़कों ने अपने गलत सवालों में भी नंबर दे दिये, कईयों ने फिर से नकल कर सही उत्तर लिख दिए । जिन्होंने अपने लिए अच्छे नंबर दे दिए उनमें खाते-पीते, धनवान्, अच्छे स्तर के कहे जाने वाले घरानों के बच्चे ही अधिक थे । गरीब अथवा साधारण स्थिति के घरों के बच्चे कम थे । ऐसा क्यों ? अच्छे धनवान्, सम्पत्तिशाली घरानों के बच्चे तो अच्छे होने चाहिए । किंतु यह भूल है । ऐसे घरों में प्राय: बड़प्पन, सफेदपोशी, चातुर्य की आड़ में सदाचार, नैतिकता, सद्‌गुणों पर केवल ऊपरी, मौखिक निष्ठा होती है । बाह्य सफलता प्राप्त करना ही इनका लक्ष्य होता है । उसके समक्ष जरूरत पड़ने पर वे सरलता से जीवन के नैतिक तत्वों का बलिदान कर देते हैं । धन, पद, प्रतिष्ठा, साधन-सामग्री आदि जैसे उपलब्ध हो सके वैसा ही वे लोग आचरण करते हैं । इस तरह के अभिभावकों की छत्र-छाया में पलने वाले बच्चे भी उनका अनुकरण करके अपनी सफलता के लिए अनैतिक तत्वों का आचरण करने में नहीं झिझकते ।

जिन घरों में तना-तनी, लड़ाई-झगड़े, कलह, अशांति रहती है, वहाँ बच्चों पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है । जो माँ-बाप बच्चों के श्रद्धा, स्नेह के केन्द्र होते हैं, उन्हें बच्चे जब परस्पर लड़ते-झगड़ते, तू-तू, मैं-मैं करते, एक दूसरे को बुरा कहते देखते हैं तो बच्चों के कोमल हृदय पर इसका बहुत

बुरा प्रभाव पड़ता है । बच्चों में माँ-बाप के प्रति तुच्छता, अनादर, संकीर्णता के भाव पैदा हो जाते हैं जो आगे चलकर उनके स्वभाव और व्यक्तित्व के अंग बन जाते हैं । अतः कभी भूलकर भी बच्चों के सामने माता-पिता को अपनी तकरार, लड़ाई-झगड़े की बात प्रकट नहीं होने देनी चाहिए । बच्चे सर्वत्र अपने माँ, बाप, भाई, रिश्तेदार, पड़ोसी सभी से प्यार और दुलार पाने की भावना रखते हैं । इसके विपरीत लड़ाई, झगड़े, क्लेश, अशांति से बच्चों के कोमल मानस पर आघात पहुँचता है ।

उदारता, प्रेम, आत्मीयता, बंधुत्व आदि की अनुकूल-प्रतिकूल भावनाओं का अंकुर बच्चों के प्रारंभिक जीवन में ही जम जाता है । जिन बच्चों को माँ-बाप का पर्याप्त प्यार-दुलार मिलता है, जिन पर अभिभावकों की छत्र-छाया बनी रहती है, जो माँ-बाप बच्चों के जीवन में दिलचस्पी प्रकट करते हैं, उनके बच्चे मानसिक विकास प्राप्त करते हैं । उनका जीवन भी उन्हीं गुणों से ओत-प्रोत हो जाता है जिनमें वे पलते हैं । माता-पिता के व्यवहार आचरण से ही बच्चों का जीवन बनता है । साहस, निर्भीकता, आत्म-गौरव की भावना बचपन में घर के वातावरण से ही पनपती है ।

माँ-बाप के व्यसन, आदतों का अनुकरण बच्चे सबसे पहले करते हैं । माँ-बाप का सिनेमा देखना, ताश खेलना, बीड़ी, सिगरेट, फैशन, बनाव, शृंगार का अनुकरण कर बच्चे भी वैसा ही करने लगते हैं । इसी तरह जो माँ-बाप सदाचारी, संयमी, विचारशील, सद्गुणी होते हैं, वैसा ही प्रभाव उनके बच्चों पर पड़ता है ।

परिवार के वातावरण में बच्चों के संस्कार, भाव, विचार, आदर्श, गुण, आदतों का निर्माण होता है जो उनके समस्त जीवन को प्रभावित करते हैं । उपदेश और पुस्तकों से जीवन की महत्वपूर्ण शिक्षा नहीं मिलती, यह तो घरों के वातावरण को स्वर्गीय, सुंदर, उत्कृष्ट बनाने पर ही निर्भर करती है ।

बालक के निर्माण में माता का हाथ

बालकों के निर्माण में सबसे बड़ा हाथ माता का है क्योंकि उसी के रक्त-माँस से बालक का शरीर बनता है । नौ महीने पेट में रखकर तथा अपने शरीर का रस-दूध पिलाकर उसका पोषण करती है । कई वर्ष का होने तक वह अधिकांश समय माता के सान्निध्य में रहता है और उसी के साथ सोता है । इसलिए स्वभावत: उसके ऊपर सबसे बड़ा प्रभाव माता का होता है । माता के जैसे विचार और संस्कार होते हैं बालक प्राय: उसी ढाँचे में ढलते हैं ।

यों पिता के बिंदु का भी थोड़ा महत्व है और बड़े होने पर शिक्षक का तथा बाह्य परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है पर यह सब मिल कर भी उतना नहीं हो पाता जितना कि माता का प्रभाव पड़ता है । माता यदि विदुषी है, सुसंस्कारयुक्त और उच्च अंत:भूमि की है तो उसकी छाया संतान पर भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होगी । संसार में जितने महापुरुष हुए हैं उनके निर्माण में माता का बहुत बड़ा हाथ रहा है ।

सुभद्रा ने बालक अभिमन्यु का निर्माण तब किया जब वह गर्भ अवस्था में था । वह चाहती थी कि उसका पुत्र भी अपने पिता अर्जुन के समान ही पराक्रमी एवं धनुर्धर हो । शिक्षा का सबसे उत्तम काल वह है जब बालक गर्भ में रहता है । उसे मालूम था कि आधी पढ़ाई बालक माता के गर्भ में पढ़ लेता है । फिर शेष जन्म भर में आधी शिक्षा पूरी कर पाता है । इसलिए सुभद्रा ने अर्जुन से कहा कि गर्भस्थ बालक पर वीरता के तथा शस्त्र प्रवीणता के संस्कार डालने के लिए आप मुझे नित्य उन विषयों की शिक्षा दिया कीजिए । माता के शरीर में ही गर्भस्थ बालक का शरीर और माता के मन में ही उनका मन बनता है, सो आप इन दिनों मुझे जो भी उपदेश करेंगे उन सबको बालक ग्रहण कर लेगा ।

अर्जुन को सुभद्रा की बात सर्वथा उचित लगी, वह नित्य वीरता एवं शस्त्र-विद्या संबंधी शिक्षा उसे देने लगा । बालक अभिमन्यु ने उस सारे ज्ञान को अपने अंत:करण में धारण किया । चक्रव्यूह भेदन की विद्या भी उसने

उसी अवस्था में अपने पिता से सीखी । चक्रव्यूह से युद्ध में सात चक्र भेदने पड़ते हैं । अभिमन्यु छः चक्रों का बेधन सीख पाया था इसलिए महाभारत में उन्होंने छः चक्र तो आसानी से वेध दिये पर जब सातवें के भेदने का समय आया तो उसकी जानकारी न होने से लड़खड़ा गये और वहीं मारे गये । सातवें चक्र वेधन की शिक्षा गर्भ में ही उन्हें कम मिली थी क्योंकि अर्जुन जब चक्रव्यूह वेधन का उपदेश कर रहे थे तब छः चक्रों तक का विवरण सुनने के बाद सुभद्रा को नींद आ गई । अर्जुन ने भी कहना बंद कर दिया । इसके बाद अर्जुन अन्य आवश्यक कार्यों में लग जाने के कारण सातवें चक्र का भेदन बताना भूल गये । सुभद्रा भी फिर न पूछ सकी । इस प्रकार वह प्रकरण अधूरा ही रह गया और उस जानकारी के अभाव में अभिमन्यु मारे गये ।

राजा दुष्यंत जब वन में घूम रहे थे तो उनने देखा कि एक बालक सिंहिनी के दो बच्चे अपनी दोनों बगलों में दबाये हुए हैं । जब सिंहिनी अपने बच्चों को छुड़ाने के लिए बालक पर गुर्राती है तो वह एक छड़ी लेकर उस सिंहिनी को कुतिया की तरह पीट देता है और वह विवश होकर पीछे हट जाती है । इस प्रकार सिंहिनी का बार-बार अपने बच्चों को छुड़ाने के लिए आगे बढ़ना और बालक का बार-बार उसे छड़ी पीटकर पीछे हटा देना एक मनोरंजक दृश्य था । दुष्यंत को उस बालक का मनोबल देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई । पूछने पर मालूम हुआ कि यह शकुंतला का पुत्र भरत है । कण्व ऋषि के आश्रम में पालन होने से शकुंतला ने अपने में आत्मबल एकत्रित किया और पति परित्यक्ता होने पर उसने पुनः कण्व आश्रम में ही निवास किया । उस वातावरण में रहने का प्रभाव माता पर पड़ा था । पुत्र ने माता और आश्रम का दुहरा लाभ उठाया । ऐसी दशा में यदि बालक सिंह-शावकों में खेलने वाला बना तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।

चित्तौड़ के राजकुमार अरिसिंह एक बार शिकार खेलने गये तो एक जंगली सूअर के पीछे घोड़ा दौड़ाया । दौड़ते-दौड़ते शाम हो गई । घायल सूअर थककर एक झाड़ी में छुप गया । राजकुमार भी बहुत थके हुए थे, वे झाड़ी के पास पहुँचे और चाहते थे कि किसी प्रकार सूअर को बाहर निकाला

जाय । पर घायल सूअर द्वारा आक्रमण करने का पूरा-पूरा खतरा था, इसलिए साथियों में से किसी की हिम्मत आगे बढ़ने को न पड़ रही थी ।

इस दृश्य को एक क़िसान लड़की अपने खेत की रखवाली करती हुई देख रही थी । वह आई, उसने उन सब शिकारियों को एक ओर हटा दिया और एक लकड़ी हाथ में लकर झाड़ी में घुस गई तथा सूअर को पीटती हुई बाहर निकाल लाई । राजकुमार इस कृषक लड़की के पराक्रम से बहुत प्रभावित हुए और उसकी प्रशंसा करते हुए घर लौट आये ।

कुछ दिन बाद राजकुमार फिर उधर से निकले । देखा तो वह लड़की सिर पर दो घड़े पानी रखे और दोनों हाथों में दो बड़े-बड़े बैलों के रस्से पकड़े जा रही है । राजकुमार को उससे कुछ छेड़खानी करने की सूझी । घोड़े को उससे सटाकर निकालने लगे ताकि उसके सिर पर रखी मटकी गिर जाय । कृषक लड़की राजकुमार की गुस्ताखी समझ गई । उसने बैल वाली एक रस्सी इस तरह फंदा बनाकर फेंकी कि घोड़े का पैर ही उसमें फँस गया और राजकुमार घोड़े समेत नीचे गिर पड़े । लड़की की वीरता पर मुग्ध होकर राजकुमार ने उसी से विवाह किया और उस लड़की के गर्भ से वीर हम्मीर का जन्म हुआ जिनकी गाथा इतिहास में प्रसिद्ध है ।

कुंती ने अपने पुत्रों को तप-बल से उत्पन्न किया था फलस्वरूप उनमें असाधारण दैवी शक्तियाँ मौजूद थीं । कर्ण को सूर्य की शक्ति से, अर्जुन को इन्द्र की शक्ति से, युधिष्ठिर को धर्म की शक्ति से और भीम को पवन देवता की शक्ति से उत्पन्न किया था । फलस्वरूप उनमें तप तेज की कमी नहीं थी । शक्ति भले ही किसी देवता की रही हो पर उसका आकर्षण एवं धारण कुंती द्वारा ही हो सका । यदि वह वैसी तपस्विनी न होती तो कदापि ऐसे बालक उत्पन्न न होते । वे देवता कुंती से पहले भी थे और अब भी हैं पर वैसी धारण शक्ति की नारियाँ न होने से उस प्रकार के बालक भी उत्पन्न नहीं हो पा रहे हैं ।

देवी अंजना ने वायु देवता को अभिमंत्रित करके पवन पुत्र हनुमान को जन्म दिया था । उनका पराक्रम सभी को विदित है । कौशिल्या ने पिछले जन्म

में तप करके अपने गर्भ से भगवान के जन्म लेने का वरदान प्राप्त किया था । उनके उच्च गुणों के कारण ही मर्यादा पुरुषोत्तम राम में वे गुण आये ।

इस प्रकार के अगणित उदाहरण प्राचीन काल के हैं । आधुनिक काल में भी ऐसे अनेक महापुरुष हुए हैं जिनकी महानता का बहुत कुछ श्रेय उनकी माताओं को ही है ।

संत विनोबा आत्मिक प्रगति का कारण अपनी माता को मानते हैं । माता की चर्चा करते हुए उनने एक बार बताया था कि-

"मेरी माँ कहती थी, मैं अगर पुरुष होती, तो दिखाती वैराग्य कैसा होता है । उसके दिल में छटपटाहट थी । लेकिन उसकी दिक्कत यह थी कि वह स्त्री थी । फिर भी मैंने देखा कि वह भक्त थी । उसकी मुझ पर बहुत श्रद्धा थी । हर चीज में वह 'विन्या' शब्द 'प्रामाण्य' मानती थी । मुझे महसूस होता है कि आज भी वह मेरे साथ चल रही है । अगर मुझे मुक्ति मिलेगी, तो उसे भी मुक्ति मिलेगी । अगर मैं वापस दुनियाँ में आऊँगा, तो वह भी मेरे साथ आयेगी । मैं जहाँ भी जाऊँगा, वह मेरे साथ आयेंगी ।"

गांधी जी की माता परम साध्वी और धर्मनिष्ठ महिला थीं । वे प्रतिदिन मंदिर जातीं और बिना भजन पूजा के जल तक ग्रहण न करती थीं । कठिन से कठिन व्रत रखती थीं । चातुर्मास का व्रत तो उनने आजन्म निवाहा । लोकमान्य तिलक की माता बड़ी तपस्विनी थीं । व्रत-उपवासों से उनने अपना शरीर सुखा डाला था । जिन दिनों बालक तिलक गर्भ में थे उन दिनों उनने बड़े कठिन अनुष्ठान किये थे । वे कहा करती थीं कि मैंने सूर्य देवता की साधना करके इस बालक को प्राप्त किया है । वह सूर्य के समान ही तेजस्वी होगा । माता की बात सच निकली, लोकमान्य तिलक की प्रतिभा और महानता सचमुच सूर्य जैसी ही प्रकाशवान् थी ।

भारत भूमि को फिर नर-रत्नों की खान बनाना है तो नारी को वर्तमान दुर्दशाग्रस्त स्थिति से निकाल कर उसे महान् बनाना होगा । महान् नारी से ही महापुरुष उत्पन्न हो सकते हैं ।

माता के संस्कार बालक पर जाते हैं यह एक निश्चित तथ्य है इसलिए

जिन्हें अपने घर को सुसंतति से हरा-भरा, फला-फूला देखना हो उन्हें पहले माता का निर्माण करना चाहिए । लोग इतना ही करते हैं कि बालक स्वस्थ हो इसके लिए गर्भावस्था में स्त्री को घी, दूध, मेवा, लड्डू आदि खिलाते हैं । कैसा अच्छा होता यदि लोग यह भी अनुभव करते कि माता के ज्ञान, अनुभव और अंतःकरण के विकास का प्रभाव बालकों पर भी अवश्य पड़ेगा । इसलिए संतान को सुयोग्य बनाने के लिए पहले उसकी माता को सुयोग्य बनाना आवश्यक है । यदि इतनी जानकारी लोगों की रही होती तो आज हमारे समाज का स्तर ही दूसरा हुआ होता ।

राम हमारे घरों में जन्में, इसके लिए कौशिल्या की जरूरत है । कृष्ण का अवतार देवकी की कोख ही कर सकती है । कर्ण, अर्जुन और भीम के पुनः दर्शन करने हों तो कुंती तैयार करनी पड़ेगी । हनुमान चाहिए तो अंजना तलाश करनी होगी । अभिमन्यु का निर्माण कोई सुभद्रा ही कर सकती है । शिवाजी की आवश्यकता हो तो जीजाबाई का अस्तितव पहले होना चाहिए । यदि इस ओर से आँखें बंद कर ली गईं और भारतीय नारी को जिस प्रकार अविद्या और अनुभवहीनता की स्थिति में रहने को विवश किया गया है, उसी तरह आगे भी रखा गया तो आगामी पीढ़ियाँ और भी अधिक मूर्खता एवं उद्दंडता लिए हुए आवेंगी और हमारे घरों की परिपाटी को नरक बना देंगी । परिवारों से ही समाज बनता है फिर सारा समाज और भी घटियाँ लोगों से भरा होने के कारण अब से भी अधिक पतनोन्मुख हो जायगा ।

आज हमारे बालकों की क्या स्थिति है, इसे बाहर ढूँढ़ने जाने या कोई रिपोर्ट तैयार कराने की जरूरत नहीं है । हममें से हर कोई अपने-अपने घरों को देख सकता है और छाती पर हाथ रखकर कह सकता है कि अपने बच्चों के गुण, कर्म, स्वभाव के संबंध में संतोष है या असंतोष ? अब अंधें माता-पिता को कंधे पर बिठा कर तीर्थ यात्रा कराने वाले श्रवण कुमार ढूँढ़े न मिलेंगे । पिता का संकेत और विमाता की इच्छा मात्र प्रतीत होते ही वन गमन करने वाले राम आज किसी घर में तलाश तो किये जायें ? भाई के लिए जान देने वाले भरत और लक्ष्मण शायद ही किसी बिरले घर में मिले ? पति के

आदेश पर बिक जाने वाली शैव्या आज कितने पतियों को प्राप्त है, यह जानना कठिन है ? ऐसे उच्च मानसिक स्तर से भरे हुए परिवार आज ढूँढ़े नहीं मिल सकते । इसका एकमात्र कारण है-नारी की अधोगति । जब सोता ही सूख गया तो नाले में पानी कहाँ से बहेगा ? जब नारी ही दुर्दशाग्रस्त स्थिति में पड़ी है तो उससे उत्पन्न होने वाली संतान के समुन्नत होने की आशा करना दुराशा मात्र ही है ।

हमारा व्यक्तिगत और राष्ट्रीय भविष्य इस बात पर निर्भर है कि भावी पीढ़ियाँ सुसंस्कृत हों । स्कूली शिक्षा से आजीविका उपार्जन करने तथा विविध क्षेत्रों की साधारण जानकारी मिलने की बात पूरी हो सकती है, पर वे सद्‌गुण जो मानव की प्रधान सम्पत्ति हैं और जिनके ऊपर व्यक्ति तथा राष्ट्र की श्रेष्ठता निर्भर करती है, स्कूलों में नहीं सीखे जा सकते । उनके शिक्षण का सही स्थान है-घर का वातावरण और उसका निर्माण करती है-गृहिणी । व्यक्ति और राष्ट्र की उन्नति के लिए हो रहे अनेकों प्रयत्नों में सुगृहिणी निर्माण का कार्य अत्यधिक आवश्यक है ।

उत्तम संतान कैसे प्राप्त हो ?

बालक के शरीर की उत्पत्ति माता-पिता के शरीर से होती है । जैसी खरी-खोटी धातु लगाई जायगी वैसा ही बर्तन बनेगा । जैसे ईंट-चूने का प्रयोग होगा वैसा ही मकान बनेगा । यदि माता-पिता के शरीर स्थूल या सूक्ष्म रोगों से ग्रसित हैं तो संतान पर भी उसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा ।

शरीर-शास्त्र के ज्ञाता यह भली-भांति जानते हैं कि कितने ही रोग ऐसे हैं जो पीढ़ियों तक चलते हैं । कुष्ठ, उपदंश, मृगी, उन्माद, अर्श, क्षय आदि के बीजाणु माता-पिता के शरीर में विद्यमान हों तो बहुधा उनका प्रभाव संतान में भी देखा जाता है । माता-पिता के रंग-रूप की छाया भी बालकों पर रहती है । गोरे या काले माता-पिता की संतान प्रायः अपने माता-पिता के रंग की ही होती है । माँ-बाप के शरीर की कृशता या स्थूलता भी बालकों पर प्रकट होती देखी गई है ।

वेष, भाषा, संस्कृति, रुचि, आहार-विहार आदि बातों में भी बच्चे अपने माँ-बाप का अनुसरण करते हैं । छोटा बालक माँ के उदर में ही उन बातों के बहुत कुछ संस्कार ग्रहण कर लेता है और जन्म धारण के पश्चात् उन बातों को सहज ही अपनाने लगता है । इस प्रकार शारीरिक और मानसिक दृष्टि से बालक सत्तर प्रतिशत अपने जन्मदाता शरीरों की प्रतिमूर्ति होता है । वंश, जातियाँ, नस्ल, वर्ण आदि विभागों के मूल में यही तत्व काम करता है । यदि माता-पिता का प्रभाव संतान पर न आता तो इस प्रकार का वर्गीकरण दृष्टिगोचर न होता और नीग्रो, चीनी, पंजाबी, बंगाली, मद्रासी, यूरोपियन आदि जातियों में जो आकृति, रंग, स्वभाव आदि का अंतर दिखाई पड़ता है वह भी न दीखता ।

पिता-माता के शरीर, स्वभाव और प्रवृत्तियों का अनुसरण प्राय: अन्य सभी जीव-जन्तुओं की भांति मनुष्य जाति में भी होता है । साथ ही मनुष्य के मानसिक और आध्यात्मिक सम्पत्तियों का उत्तराधिकार उसके आत्मजों को मिलता है । हम माता-पिता के धन-सम्पत्ति एवं यश-अपयश के ही नहीं उनकी आंतरिक विशेषताओं, आध्यात्मिक संपदाओं के भी उत्तराधिकारी होते हैं । उत्तम ब्राह्मण कुल में बहुधा सात्विक कुल के बालक जन्मते हैं और बधिक, म्लेच्छ एवं कसाईयों के घरों में वैसी ही प्रकृति के बच्चे जन्मते और बनते हैं ।

यों हर जीव अपने पूर्व जन्मों के स्वतंत्र संस्कार और प्रारब्ध साथ लाता है । इसलिए कभी-कभी संतान माता-पिता से भिन्न स्वभाव की होती देखी गई है, पर ऐसा होता अपवाद स्वरूप ही है । अधिकांश बच्चे अपने जन्मदाताओं के गुण, कर्म, स्वभाव के होते हैं । भारतीय वर्ण व्यवस्था में इस तत्व को प्रमुख आधार मानकर जन्म एवं वंश को प्रधानता दी गई है । एक शरीर त्याग कर जीव एक दूसरे शरीर में आने को होता है तो वह अपनी संचित रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल स्थान को ढूँढ़ता है । रेलगाड़ी के फर्स्ट क्लास डिब्बे में यात्रा करने वाले यात्री स्टेशन पर उतर कर फर्स्ट क्लास के यात्रियों के लिए बने हुए विशेष मुसाफिरखाने में चले जाते हैं और तीसरे दर्जे

में यात्रा करने वाले उसी दर्जे के निमित्त बने हुए मुसाफिरखाने में जा बैठते हैं । वैसे ही जीव भी अगले जन्म के लिए अपने उपयुक्त वंश में जा पहुँचता है । आकाश में उड़ते हुए पक्षी तथा कीट-पतंग अपनी रुचिकर वस्तुओं को ढूँढ़ते फिरते हैं और जब अनुकूल-अभीष्ट वस्तु मिल जाती है तब उसे प्राप्त करने के लिए नीचे ऊपर आते हैं । गिद्ध मृत मांस को, कौए विष्टा को, भौंरा फूलों को, बाज चिड़ियों को ढूँढ़ते फिरते हैं । जहाँ उनकी मनचाही वस्तु दिखाई देती है वही उतर पड़ते हैं । जीवों को प्रारब्ध तो अपने कर्मानुसार ही भुगतने पडते हैं, जो हर कुल और वंश में भुगते जाने संभव हैं, पर जन्म लेने के लिए वे अपनी पूर्ण संचित रुचि के अनुकूल स्थिति ही ढूँढ़ते हैं और दयामय प्रभु उन्हें इच्छित वातावरण में ही जन्मने का अवसर प्रदान कर देते हैं ।

माता-पिता की जैसी आध्यात्मिक भूमिका होती है, उसी के अनुरूप प्रारब्ध संस्कार वाले जीवन उनके शरीर में प्रवेश करके उस वातावरण में जन्म धारण करते हैं । इसलिए यदि अपने घर में उत्तम संतान को जन्म देना है तो उसके लिए अपने आपको उत्तम बनाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए । जो लोग स्वयं पतित दशा में हैं, जिनकी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक स्थिति गिरी हुई है, उनकी संतान भी दीन-हीन ही रहेगी ।

कहा गया है कि संतान के कारण उसके पितरों को नरकगामी होना पड़ता है । कारण स्पष्ट है । संतान को समुचित पूर्ण तैयारी के बिना ही उत्पन्न कर डालना एक भारी पाप है, जिसका दंड उसे पारलौकिक जीवन में तो मिलता ही है, लौकिक जीवन में भी उसकी कम दुर्गति नहीं होती । संतान की हीनता और नीचता से जो अनुचित कार्य होते हैं, उनसे माता-पिता की भी निन्दा होती है क्योंकि वे सुयोग्य संतान उत्पन्न करने का अपना उत्तरदायित्व पूरा करने में सफल न हो सके । जो व्यक्ति अनधिकार चेष्टा करते हैं वे निंदा के पात्र होते हैं । मनुष्योचित गुण जिसमें न हों वह तो पशु ही है । पशुओं की भांति केवल काम प्रेरणा से गर्भाधान में प्रवृत्त हो जाना और एक असंस्कृत जीवन उत्पन्न कर देना पशु प्रवृत्ति है । यह मनुष्यता के प्रति, देश और जाति के प्रति एक अपराध भी है, क्योंकि उनके पाशविक उद्देश्य के फलस्वरूप जो

बालक उपजते हैं, संसार के लिए अहितकर और अवांछनीय कार्य करते हैं उनसे पृथ्वी का बोझ बढ़ता और संसार में अनीति तथा अशांति की वृद्धि होती है । इस गड़बड़ी की जिम्मेदारी उन माता-पिता पर है जो संतानोत्पत्ति का महान् उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करने से पूर्व उसकी भावी संभावनाओं पर विचार नहीं करते । ऐसी गैर जिम्मेदारी किसी व्यक्ति की लौकिक और पारलौकिक दुर्गति का ही कारण हो सकती है । ऐसे पिता नरकगामी नहीं होंगे तो क्या स्वर्गगामी होंगे ?

आज हमारे परिवार क्लेश और कलह से भर रहे हैं । उनमें प्रधान कारण असंस्कृत संतान है । घर के मुखिया एवं बड़े-बूढ़े, छोटों की उद्दडता, उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता, चोरी, स्वार्थपरता, अशिष्टता से परेशान देखे जाते हैं । स्कूलों में अध्यापक सिर धुनते हैं, घर में अभिभावकों की आँतें-पीतें जलती हैं । क्या लड़कियाँ, क्या लड़के सभी की चाल बेढंगी है । जब तक बचपन रहता है तब तक उद्दंडता करते हैं, कुछ समझदार होते हैं तो वासना और विलासिता की ओर झुक पड़ते हैं, बड़े होने पर उनकी कार्य-पद्धति स्वार्थपरता से ओत-प्रोत हो जाती है । माता-पिता के लिए, संस्कृति के लिए, मनुष्यता के लिए यह अभिशाप ही सिद्ध होते हैं । हमारी नई पीढ़ियाँ इसी मार्ग का अनुसरण कर रही हैं । कोई बिरले ही भाग्यशाली घर ऐसे होंगे जिनमें कर्तव्य पालन, शिष्टाचार, सद्भावना, सेवा, त्याग, आत्मीयता एवं सदाशयता का अमृत बरसता हो । प्राचीन काल में जो स्थिति घर-घर थी वह आज कहीं दिखाई नहीं पड़ती, जो बातें पूर्व काल में कहीं नहीं देखी जाती थीं वे घर-घर में मौजूद हैं । परिस्थितियों में इतना भारी परिवर्तन हो जाने के कारणों में सबसे बड़ा कारण माता-पिता की गैर जिम्मेदारी है, जो संतानोत्पत्ति के लिए आवश्यक योग्यता प्राप्त किये बिना इस भारी उत्तरदायित्व को कंधे पर उठाने का दुस्साहस कर बैठते हैं । इन्हीं भूलों के कारण आज हमारा पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन विषाक्त बनता चला जा रहा है ।

हमें नीतिवान् एवं चरित्रवान् होना चाहिए क्योंकि यह जीवन-यापन की सर्वोत्तम नीति है । हमें अपने गुण, कर्म और स्वभाव को उत्तम बनाना चाहिए

क्योंकि यह सफलता, समृद्धि और उन्नति का सुपरिचित मार्ग है । हमारा यह कर्तव्य है कि वह अपनी मनोभूमि को, अपने दृष्टिकोण को, अपनी विचारधारा को, अपनी कार्य पद्धति को उच्चकोटि के आदर्शों से ओत-प्रोत करें, क्योंकि इसी मार्ग पर चल कर लोक और परलोक की सुख-शांति संभव है । आज कुपात्र संतान की बाढ़ आई हुई है और संपन्न संतति के दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं । यदि हम श्रेष्ठ और सुखी परिवारों का निर्माण चाहते हैं तो हमें इस परिस्थिति को बदलना ही पड़ेगा ।

卐

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा